CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परम्परा बन्धन नहीं

विद्यानिवास मिश्र

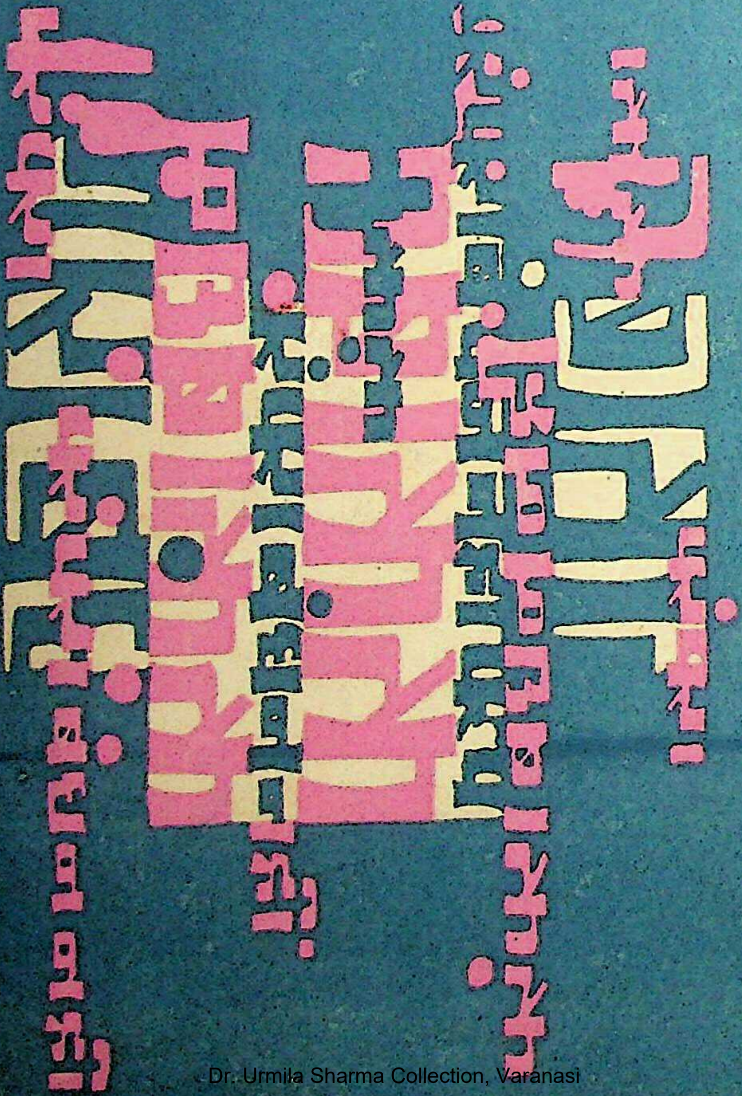

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'परम्परा बन्धन नहीं' हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार एवं अग्रगण्य निबन्धकार विद्यानिवास मिश्र के बारह वैचारिक निबन्धों का नवीनतम संकलन है। निबन्धकार के अपने शब्दों में—"इन सब (निबन्धों) के पीछे मेरा एक विशेष वैचारिक आग्रह रहा है, वह यह कि काफी दिनों तक हमने दूसरों की नज़र से अपने को पहचानने की कोशिश की, पर अब, हमें इतनी तो कोशिश करनी ही चाहिए कि हम भी अपनी नज़र से अपने को देखें, ऐसा न हो जाए कि कहीं भारतीय दृष्टि की भी दीक्षा पश्चिमी विद्वानों से लेनी पड़े···

"···पुस्तक रूप में देते समय जान-बूझकर मैंने पुनरावृत्तियों को रहने दिया है ताकि बार-बार भारतीय दृष्टि की उदारता, व्यापकता और जाति-निरपेक्षता की बात दुहराने से यह पता चले कि मेरी यदि कोई प्रतिबद्धता है तो यही कि हिन्दुस्तान का समूचा चिन्तन केवल हिन्दुस्तान के लिए नहीं, केवल हिन्दू के लिए नहीं, सारी दुनिया और सारे मजहब वालों के लिए है।" (भूमिका से)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

10-3

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

आम्नाय-ग्रन्थालय,
[illegible], करौंदी
वाराणसी-5

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परम्परा बन्धन नहीं

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परम्परा बन्धन नहीं

(वैचारिक निवन्धों का संकलन)

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

विद्यानिवास मिश्र

सम्मति व समालोचना के लिये
प्रकाशक की ओर से सादर भेंट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आ[illegible]ालय,
भरत[illegible]. [illegible]रौंदी
वाराणसी-5

मूल्य : बारह रुपये (12.00)

प्रथम संस्करण 1976 © विद्यानिवास मिश्र
PARAMPARA BANDHAN NAHIN (Essays) by Vidya Niwas Mishra

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

श्रद्धेय भैया साहब
(पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी)
को समर्पित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

भूमिका

मैं वैचारिक निबंधों का यह अलग से संग्रह इसलिए नहीं दे रहा हूं कि वैयक्तिक निबंधकार के रूप में अपनी बदनाम हैसियत से अपने को अलग करना चाहता हूं बल्कि इसलिए, कि इन निबंधों के द्वारा एक अन्वित-रूप में अपनी वैचारिक उन्मुक्तता और प्रतिबद्धता, दोनों का एक सम्पुंजित रूप में परिचय कराना चाहता हूं। मेरे वैयक्तिक निबंधों में भी मेरी वैचारिकता है, किन्तु वहां वैचारिकता के अतिरिक्त एक भावात्मक तादात्म्य भी है। इन निबंधों में भी भावात्मक तादात्म्य है, पर वह निगूढ़ रूप में है। भावात्मक तादात्म्य के बिना कोई भी लिखना मुझे भूसा ओसाने जैसा लगता है।

यद्यपि इस संग्रह के निबंध अलग-अलग समय पर लिखे गए किन्तु इन सबके पीछे मेरा एक विशेष वैचारिक आग्रह रहा है, वह यह कि काफी दिनों तक हमने दूसरों की नज़र से अपने को पहचानने की कोशिश की; पर अब, जब कि बाहर के तटस्थ विचारक यह अनुभव करने लगे हैं कि हिन्दुस्तान के चिन्तन को हिन्दुस्तान की नज़र से देखना इसलिए नहीं आवश्यक है कि हिन्दुस्तान के लिए यह बहुत बड़ा उपकार होगा बल्कि उस नज़र से हिन्दुस्तान को देखने पर हम अपनी पहचान भी सही और पूरी तौर पर कर सकेंगे, हमें इतनी तो कोशिश करनी ही चाहिए कि हम भी अपनी नज़र से अपने को देखें, ऐसा न हो कि कहीं भारतीय दृष्टि की भी दीक्षा पश्चिमी विद्वानों से लेनी पड़े। अभी किसी न किसी दृष्टि से स्वतन्त्र भारतीय दृष्टि से सोचने की परम्परा इस देश में जीवित है, भले ही उस पर हज़ारों बैठन चढ़ गए हों। यह हो सकता है कि इन निबंधों में कहीं-कहीं एक ही बात किसी विशेष आग्रह के कारण दुहराई मिले, पर पुस्तक-रूप में देते समय जानबूझकर मैंने पुनरावृत्तियों को रहने दिया है ताकि बार-बार भारतीय दृष्टि की उदारता, व्यापकता और जाति-निरपेक्षता की बात दुहराने से यह पता चले कि मेरी यदि कोई प्रतिबद्धता है तो यही कि हिन्दुस्तान का समूचा चिन्तन केवल हिन्दुस्तान के लिए नहीं, केवल हिन्दू के लिए नहीं, सारी दुनिया और सारे मज़हब वालों के लिए है।

इस संग्रह में बहुत-से ऐसे विषयों की चर्चा है जो पठन-पाठन और शोध में लोकप्रिय नहीं कहे जा सकते और विशेष रूप से पाश्चात्य विधाओं के अध्ययन-अध्यापन का जो एक ढर्रा-सा बन गया है, उससे अलग पड़ते हैं। हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकता है कि कुछ लोग सोचें कि धर्मप्राण संस्कृत साहित्य में मानववाद की बात बेमेल है, या भारत में काल-बोध की चर्चा करना एक अतिरिक्त देश-प्रेम का उन्माद है, या भारतीय चिन्तन की हर क्षेत्र में कोई अलग धारा की कल्पना केवल वाग्विलास है। कुछ लोग यह भी सोचेंगे कि ये लेख बहुत-कुछ चौंकाने के लिए लिखे गए हैं। मैं स्वर्गीय डा० राममनोहर लोहिया का बहुत ऋणी हूं कि उन्होंने इस निबंध-संग्रह के परम्परा-बन्धन-हीन शीर्षक को देखकर बड़े मंच से उसकी आशंसा की थी और कहा था कि "हिन्दुस्तानी दृष्टि से हिन्दुस्तान को समझने की एक शुरुआत हुई है। मैं इसको बहुत शुभ लक्षण मानता हूं।" मैं श्रद्धेय पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी का भी बहुत आभारी हूं कि उन्होंने अपनी विचारोत्तेजक अन्तरंग चर्चाओं में अपने जीवन-दर्शन के प्रति आस्था जगाकर निरन्तर प्रेरणा दी है। स्नेही भाई (सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन) के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना उपचार होगा, हकीकत यह है कि इस संग्रह के अधिकांश निबंध उन्हीं के बार-बार उकसाने पर लिखे गए हैं—कई-एक 'नया प्रतीक' में छपे भी हैं। अपने अमरीकी मित्रों में घनिष्ठतम मित्र वरकर्मा कुर-टिस को इस समय विशेष रूप से स्मरण करना चाहता हूं। उन्होंने बिना किसी विशेष दीक्षा के सहज रूप में हिन्दू जीवन-पद्धति स्वीकार की और उनसे जो बहुत लम्बे सवाल-जवाब हुए उनसे मुझे हिन्दू धर्म-चिन्तन के सम्बन्ध में प्रत्यव-लोकन करने के लिए बहुत प्रेरणा मिली।

अन्त में राजपाल एण्ड सन्ज़ और श्री ईश्वरचन्द्र जी के प्रति आभार व्यक्त करना चाहता हूं कि उन्होंने इस निबंध-संग्रह की पांडुलिपि तैयार कराने के लिए मुझे इतना तत्पर किया और इसे सुरुचि के साथ छापा।

अक्षय-तृतीया
२०३३ वैक्रमाब्द

—विद्यानिवास मिश्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुक्रम

प्राक्कथन

१. परम्परा बन्धन नहीं ११

२. महाभारत का सत्य १६

३. भारतीय इतिहास-बोध और भारत का प्रबुद्ध मानस २४

४. प्राचीन भारतीय साहित्य की मानवीय परिकल्पना ३१

५. हिन्दू धर्म की नयी पहचान ४२

६. संस्कृत साहित्य की पहचान ४९

७. भारतीय लोक-साहित्य की पहचान ५४

८. तकनीक और आदमी ६६

९. आज के भारत की सांस्कृतिक विपन्नता ७४

१०. आधुनिक संदर्भ में आस्था की सही पहचान ८१

११. चिन्तन-कण ८७

१२. भारतीय कलादृष्टि ९२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१

परम्परा बन्धन नहीं

यदि भारतीय विचारधारा को कोई नाम देने को मुझसे कहा जाए तो मैं कहूंगा कि वह परम्परा है, परम्परावादी मात्र नहीं। इस संदर्भ में इतिहास और परम्परा के अन्तर का महत्त्व और बढ़ जाता है। इतिहास मनुष्य को काल, देश और जाति में आवद्ध मानकर चलता है और अब तक के इतिहास-बोध का लक्ष्य मानव-समुदाय को जातीय ऋण, देशगत बोध और कालगत क्रम को बांधे रखना ही रहा है।

इतिहास की व्याख्या बदलती रही है। प्राचीन युग के हैरोदोतुस से लेकर मध्ययुग के इब्न खल्दून तक ही नहीं, ग्राज भी इतिहास का बोध मानव-नियति को आबद्ध किए हुए है। भारत का दूसरे देशों से विलगाव सतही राजनैतिक कारणों से मात्र नहीं है। यह विलगाव बड़ा गहरा है। मसीही जीवन-दृष्टि में पाप ग्रोढ़ने का आग्रह, पैगंबरी जीवन-दृष्टि में सर्वशक्तिमान् का विराट् आतंक, द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की दृष्टि में सहज अधिकार का अस्वीकार, अस्तित्ववादी दृष्टि में अस्तित्व के ऐतिहासिक सन्दर्भ को स्वीकार करने की विवशता, इन सबसे शुद्ध भारतीय दृष्टि विलग है; पर विलग होती हुई भी वह इनमें से किसी का प्रत्याख्यान या खंडन नहीं करती, अपने को किसी के विरोध में प्रस्थापित भी नहीं करती। बाहर के अत्यन्त प्रबुद्ध लोगों को भारत से खीझ इसलिए और अधिक तीव्र होती है कि प्राचीनता से इस बुरी तरह बंधा हुग्रा यह देश हर आधुनिक मूल्य को सहज भाव से स्वीकार करके भी अपनी परम्परा से विलग नहीं होता। यह खीझ भारत के संशयालु बुद्धि-वादियों के मन में भी होती है, जो प्रगति की चिन्ता में इतने वेज़ार रहते हैं कि वे लक्ष्य की तरफ देखना भी भूल जाते हैं। वे लोग भयंकर रूप में विभक्त हैं। उनके घर सन्तोषी माता की कथा होती है, जाने किस-किस देवी-देवता की मनौती मानी जाती है, और देहरी से बाहर पैर रखते ही वे हिन्दू-धर्म और प्रगति में विरोध देखने लगते हैं, पश्चिमी आचार और प्रगति में तादात्म्य देखने लगते हैं। वे एक ओर सार्वजनिक क्षेत्र में उदारता का दम भरेंगे और तमाम दुनिया के लोगों से अपनी धर्म-निरपेक्षता की दाद चाहेंगे, पर दूसरी ओर जब कभी कश्मीर के सवाल पर समर्थन मांगना होगा, तो हिन्दू की नहीं, मुसलमान की शहादत की मांग करेंगे। मुसलमान यह कहे कि हिन्दू का नाम असाम्प्रदायिक है, इसे किसी विश्वविद्यालय-जैसी संस्था का नाम बने रहने देने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से सेक्यूलर (मज़हब-निरपेक्ष) मूल्य की प्रतिष्ठा होगी, इसका ढोल पीटा जाएगा। वहीं भारतीय जीवन-दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता— अशेष उदारता—को दुर्बलता कहकर त्याग दिया जाएगा। इसी प्रकार की मनोवृत्ति वाले तात्कालिक सुविधा की बात करते रहे हैं, और देश की विदेश नीति, अर्थ नीति और सामाजिक नीति में निरन्तर परस्पर-विरोधी स्थापनाएं लाते रहे हैं।

उसका परिणाम सामने है, इस देश का तथाकथित बुद्धिवादी इस देश के सामान्य जन की आकांक्षा और सम्भावना को छू नहीं पाता, शासक और शासित के बीच एक गहरी खाई है, उद्योगीकरण और कृषि के बीच भयंकर असन्तुलन है, शहर और गांव एक-दूसरे की ओर पीठ किए अजनबीपन की ओर बढ़ रहे हैं। भीतर इतना मन्थन, ऊपर केवल एक हल्का-सा स्पन्दन और केवल एक अर्थहीन शोर। इस विश्रृंखलता का मूल ढूंढ़ना हो तो पहले इतिहास और परम्परा के अन्तर को समझना होगा। परम्परा का अर्थ है : पर के भी जो परे हो, श्रेष्ठ से भी जो श्रेष्ठतर हो, जो कभी न भूत हो न भविष्यत्, जो सतत वर्तमान हो, जो कभी सिद्ध न हो, निरन्तर साध्य हो। परम्परा इसी लिए साधना का पर्याय है। आचार का अनुशासन वह स्वीकार इसलिए करती है कि एकाग्र होकर, सत्यनिष्ठ होकर विचार के प्रवाह को साधे रहे, विचार को कभी जड़ न होने दे—सीधी रेखा में नहीं, वर्तुल गोलाइयों में उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी होती रहे। यह इतिहास-चक्रों के व्यूह को तोड़ती चलती है, मनुष्य के स्वाधीनता के आयाम तानती चलती है। यह मनुष्य को विचारों से नहीं, विचारों से मनुष्य को बांधती चलती है। पारम्परिक दृष्टि से इसी लिए कयामत का कोई एक दिन मुकर्रर नहीं है, सत्ता का कोई केन्द्रीकरण नहीं है। पारम्परिक दृष्टि का, दूसरे शब्दों में, वैज्ञानिक दृष्टि से कोई विरोध नहीं है। परम्परा उषा की तरह 'पुराणी युवति' है। हर सूर्योदय में वह नई होती है हर दुपहरी में प्रखर होती है, हर संध्या में ध्यानमग्न होती है, हर चांदनी में स्वप्नाविष्ट होती है। वह बिना मरे नया जन्म लेती है।

परम्परा में व्यक्ति की सिद्ध वस्तु के रूप में पूजा नहीं होती, व्यक्ति की निरन्तर उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर रचना होती है। राम और कृष्ण कोरे ऐतिहासिक व्यक्ति रहते तो जाने कब मर गए होते। पर वे निरन्तर जन्म लेते रहे, निरन्तर बढ़ते रहे। वे पूजित हुए व्यक्ति के रूप में नहीं, विश्व-सत्ता के प्रतिमान के रूप में। यह प्रतिमान जड़ नहीं है, सिद्ध नहीं है, पर प्रतिमानों की पिछली श्रृंखला से असंपृक्त भी नहीं है। व्यास ने महाभारत को इतिहास कहा, पर वह इतिहास आज की हिस्टरी के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ। इतिहास का अर्थ है, "ऐसा रहा है", आस—अस्…लिट्—पूर्ण वर्तमान के अर्थ में, न कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

था" या "ऐसा हुआ था"। इसलिए महाभारत भूतकाल की घटना का विवरण मात्र नहीं है, वह घटना के विवरण के व्याज से मानव धर्म की शाश्वत अभिव्यंजना है। इसी लिए वह "रहा है", "केवल था" नहीं।

यह केवल आकस्मिक संयोग नहीं है, कि 'अस्'=सत्ता धातु के संस्कृत भाषा में भूत और भविष्यत् में कोई रूप नहीं हैं, केवल संगठन की एकरूपता कायम करने के लिए कह दिया जाता है कि, 'अस्' को 'भू' आदेश हो जाता है। यह उस चिन्तनधारा का ही व्यापक प्रभाव है कि सत्ता हमेशा वर्तमान मानी जाती है, और भाव या प्रक्रिया भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों में देखी जाती है। सत्य कभी भूत नहीं बनता। सत्य कभी भविष्यत् के सहारे टंगा नहीं रहता। वह सत् है, वर्तमान है। यही कारण है कि हमारे देश में पितृ-पूजा और संतान-कामना, दोनों जुड़ी हुई हैं पर दोनों एक समग्र जीवन की ही अंगभूत हैं।

भारत में अपने नाम का पहला लेख अखमनी साम्राज्य की नकल से लिखवाया गया। पहली मानवीय प्रतिमा चीन की राजपूजक विचारधारा के अनुवर्तन में कुषाण-काल में गढ़ी गई। पहला तिथिबद्ध इतिहास—राजतरंगिणी—विदेशी इतिहास-पद्धति के प्रकाश में लिखा गया। देश के लिए हिन्दुस्तान, जाति या मज़हब के लिए हिन्दू के प्रयोग भी जिन लोगों द्वारा पहली बार किए गए वे बाहरी थे। मनु ने धर्म का एकमात्र नाम दिया : मानव। कुछ ने आर्य कहा। बौद्धों ने सद्धर्म कहा। वैदिक या स्मार्त नाम भी आए, पर धर्म का देशबद्ध या विश्वासबद्ध या जातिबद्ध नाम किसी विचारक ने नहीं दिया। देश को भी भौगोलिक सीमा में सिमटाने की प्रक्रिया बाद में शुरू हुई। राष्ट्र शब्द मानव-समुदाय का वाचक है। भारत एक विशेष परम्परा का वाचक है, इसीलिए उसकी धारणा के भीतर बृहत्तर भारत भी समा सका। महाभारत की कथाएं अंकोरवाट, जावा और मध्य एशिया में प्रेरणा की स्रोत बनीं। तुलसीदास तक ने धर्म मात्र की बात की, पृथ्वी मात्र की बात की। क्या वे कम भारतीय या कम हिन्दू थे ? कबीर ने जब ललकार कर कहा, 'हिन्दू तुरुक दोउ राह न पाई', तो वे भारत की उदार दृष्टि ही आलोकित कर रहे थे। हिन्दू का अर्थ उनके सामने है—जातिबद्ध चेतना का गुलाम। हिन्दू और तुरुक—दो पृथक् इतिहासों के कर्ज़दार नाम हैं। दोनों के इतिहास प्रतिशोध मांगते हैं। इतिहास बराबर प्रतिशोध मांगता आया है—वैर भूल न जाना ! कोई भी वीर इस गाथा को पढ़े, तो अपने हाथ से वैरी के प्रासाद को जलाकर ही ऋण का शोधन कर सकेगा। बहुत उदार हुआ इतिहास तो स्वप्न देखता है, कि सारे विश्व का एक मज़हब होगा, और वह ईसाइयत ही है; पर इतिहास बराबर मनुष्य की देश और कालबद्ध सीमाओं की पुकार लगाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह सीमाओं का विस्तार मांगता है, सीमाओं की प्रतिरक्षा मांगता है, पर वह सीमाओं से परे कभी सोच नहीं सकता।

जो लोग भारत की शक्ति पहचाने बिना अंग्रेज़ी को ऐतिहासिक विरासत के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं, पश्चिम की अमानवीय यांत्रिकता को प्रगति का पर्याय मानकर योजनाएं चलाना चाहते हैं, और उन योजनाओं के अनुशासन के नाम पर सोचने के तरीकों का अनुशासन लादना चाहते हैं, वे लोग आज आंखें खोलकर देखें कि यथार्थ क्या है। यथार्थ इतना ही नहीं कि अमेरिका और ब्रिटेन ने पाकिस्तान युद्ध में हमारा साथ नहीं दिया, अरब देशों के अगुवा चुप साधे रह गए, हमारी एशियाई दोस्ती काफूर हो गई। सोवियत संघ ने भी पाकिस्तान और भारत को दो महान् संघर्षरत तटस्थ राष्ट्रों के रूप में देखा, और उससे यह संघर्ष देखा न गया। यथार्थ का यह सतही रूप है। यथार्थ और गहरा है। इतिहास की सर्वग्रासी दृष्टि हर शक्तिशाली राष्ट्र को प्रभाव-विस्तार के दायित्व से जीते हुए है। भारत उस दृष्टि को झेल सकता है क्योंकि उसके ऊपर इतिहास का बोझ नया है, और वह हलका है, वह इस बोझ से अभी पिस नहीं पाया है। पकिस्तान तो शुद्ध रूप से इतिहास का गुलाम है, तभी तो उसके विधाता अपने को मुगल शासकों से जोड़ते हैं। मुगलों के उत्तराधिकारी अंग्रेज़ों से जोड़ते हैं, और धरती को काट-कर फेंक देते हैं। पर अगर भारत को विजय पानी है तो सबसे पहले अपने भीतर उमड़े हुए संशय के अन्धकार पर विजय पानी होगी। इतिहास और परम्परा में से एक को ही चुना जा सकता है। परम्परा को चुनने पर बात शिवाजी, पृथ्वीराज, प्रताप या अशोक पर समाप्त नहीं होती। परम्परा राम-कृष्ण, सूरदास, तुलसी, कबीर, शंकर, बुद्ध, महावीर, व्यास, वाल्मीकि और तमाम अनाम और सनाम ऋषियों, सन्तों और धर्म-साधकों से बनती है। वह परम्परा प्रतिशोध पर नहीं, सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा पर बल देती है। परम्परा की विजय पाकिस्तान के पराभव से नहीं, उदार और शक्तिशाली भारत में उसके शुद्ध भाव से जुड़ने में होगी। इतिहास तभी सही माने में नकारा जाएगा।

पर उस परम्परा को सही तौर पर हम पहले समझें तो सही। मज़हब की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का आदर करना तो सीखें, मज़हब को सामाजिक नीति-नियमों का निर्धारक न बनने दें, कुछ मुसलमानों की भारत-भक्ति को अनावश्यक महत्त्व देकर सामान्य मुसलमान की नीयत पर सन्देह करना छोड़ें, निष्ठा की तुला पर हिन्दू और मुसलमान को एक साथ तोलना शुरू करें, उन आदर्शों को जगाएं जिन्होंने मज़हबी स्वतन्त्रता को भेद की दृष्टि से नहीं, अभेद की दृष्टि से स्वीकार किया था। यदि हिन्दू और मुसलमान दो जातियां नहीं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दो देश नहीं, दो इतिहास नहीं, तो मुसलमान से अतिरिक्त भारत-भक्ति का आग्रह क्यों? उस हिन्दू नाम की सार्वजनिक जीवन में रक्षा के लिए इतना वितंडा क्यों? जिसके आदर्शों को हम बार-बार झुठला रहे हैं, अमेरिकी चिन्तन-पद्धति के दासों से हम जिस हिन्दुत्व की हिमायत कराके थक नहीं रहे हैं, उस हिन्दुत्व को मात्र ऐतिहासिक प्रतिक्रिया का अस्त्र बनाकर छोटा कर रहे हैं, उस हिन्दुत्व के हम अधिकारी क्यों बनें? हम हिन्दू परम्परा को यदि आत्मसात् करते हैं तो सबसे पहले इतिहास के मसान जगाने वाले ओझाओं-सोखाओं को बाहर करें। गज़नी, गौरी, औरंगज़ेब का अत्याचार उनके साथ गया। उनके वंशधर अत्याचारों की विरासत लेकर नहीं, मानवीय संस्कार लेकर पैदा हुए। और मानवीय धरातल पर कम से कम हिन्दू ने कभी किसी के खुदा को नकारा नहीं, किसी के आराध्य को तिरस्कारा नहीं। उसके बाद यह भी आवश्यक है कि हम भय या आशंका से नहीं, दिखावा के लिए नहीं, सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा के लिए मज़हब-निरपेक्ष दृष्टि अपनाएं और इस पर दृढ़ रहें। तुष्टि की नीति अपनाकर हम निरन्तर अपने ही द्वारा निर्मित जाल में फंसते गए हैं, और द्विराष्ट्रवाद के खंडन का हमारा सारा दावा झूठा होता जा रहा है।

हमारी परम्परा काल या देश को मनुष्य में स्थित या निवर्तमान देखती है। हां, वह मनुष्य विराट् रूप है, गड़ही का घोंघा नहीं है। वह नई उपलब्धि से घबराता या भागता नहीं, उसे असीखता है। जो लोग विराट् दायित्व से छुटकारा पाने के लिए अस्तित्ववाद की शरण लेते हैं या जो परम्परावाद को जनवाद के नाम पर ऐतिहासिक भौतिकवाद की चेरी बनाकर परम्परा के धरोहरी बन जाते हैं, वे वर्तमान संघर्ष की गहराई को छू नहीं सकते, और भारतीय समाज का सही नेतृत्व नहीं कर सकते। परम्परा को स्वीकार करने का अर्थ बन्धन नहीं, अनुशासन का स्वेच्छा से वरण है, विध्यात्मक उदारता के लिए अपनी समस्त हत्याओं का समर्पण है। इसी लिए वह इतिहास से बड़ी है और हमारे लिए तो अपरिहार्य है, वही हमारी शक्ति है। परम्परा अपने को ही काटकर-तोड़कर आगे बढ़ती है, इसलिए कि वह निरन्तर मनुष्य को अनुशासित रखते हुए भी स्वाधीनता के नये-नये आयामों में प्रतिष्ठित करती चलती है। परम्परा बन्धन नहीं है, वह मनुष्य की मुक्ति (अपने लिए ही नहीं, सबके लिए मुक्ति) की निरन्तर तलाश है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२

महाभारत का सत्य

महाभारत को भारत के इतिहास-शिक्षित विद्वानों ने जिस प्रकार के विवाद में घसीटा है, उससे दो चीज़ें बहुत साफ ज़ाहिर होती हैं—एक तो यह कि कुछ ऐसे संकीर्णता के संस्कार भारतीय मानस में पैदा कर दिए गए हैं, जिनको भारतीय दृष्टि से सोचने पर लाचार होकर बचकाना संस्कार कहा जाएगा; दूसरी बात यह कि एक ओर ये विद्वान् महाभारत को इतिहास मानने को तैयार नहीं हैं—दूसरी ओर महाभारत में प्रस्तुत किए गए युद्ध-वर्णन को यथावत् ग्रहण करके उसके अनुसार अस्त्र-शस्त्रों के अवशेष ढूंढ़ने के लिए परेशान हैं। समझ में नहीं आता कि ये दोनों चीजें एक साथ कैसे संभव हो सकती हैं! या तो यह मानकर चला जाए कि महाभारत आज के अर्थ में इतिहास नहीं है, वह सामने देखी गई घटनाओं का ज्यों-का-त्यों वर्णन नहीं है, तब उसमें वर्णित सामग्री का परीक्षण इतिहास की सीमित दृष्टि से करना सरासर अन्याय होगा; या फिर यही मानकर चला जाए कि महाभारत आधुनिक अर्थ में इतिहास है और तब उसमें वर्णित अस्त्र-शस्त्र सामग्री मिले-न-मिले, महाभारत-कालीन राजाओं के सिक्के या अभिलेख मिलें-न-मिलें, उसको या कम-से-कम उसके उस अंश को—जिसे हम महाभारत का मूल-स्रोत भाग मान सकते हैं—प्रमाण मान लेने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए।

महाभारत का युद्ध सीमित दायरे में हुआ या उसका प्रभाव बृहत्तर भारत समेत भारतीय महाद्वीप पर हुआ; वह दो कबीलों की छोटी-सी लड़ाई थी या दो प्रकार के शक्ति-समूहों का संघर्ष था, जिसमें एक समूह केन्द्रोन्मुख शक्तियों का था और उसके साथ अधिकतर भारत के मध्यवर्ती क्षेत्र के राज्य थे, और दूसरा समूह केन्द्रीय सारी शक्तियों का था, जिनके अन्तर्गत भारत के सीमावर्ती राज्य थे, इसका विवेचन करने के लिए जब तक महाभारत के अलावा कोई दूसरा सहायक साक्ष्य न उपलब्ध हो (और जितनी भी उत्तरवर्ती पौराणिक सामग्री उपलब्ध है, उससे महाभारत की कथावस्तु का ही समर्थन होता हो।) तब तक महाभारत के साक्ष्य को केवल पत्थरों के साक्ष्य के अभाव में अप्रमाणित ठहराना मौन के तर्क को निषेध का तर्क स्वीकार करने-जैसा उपहासास्पद होगा। पहले तो यही विवेचनीय है कि स्वयं महाभारत में महाभारत को क्या कहा गया है।

महाभारत में महाभारत के तीन नाम मिलते हैं—जय, भारत और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महाभारत।

'भारत' के बारे में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वह २४ हज़ार श्लोकों का था। इसमें आख्यान जोड़े गए, तब यह एक लाख श्लोकों का हुआ और तभी इसका नाम 'महाभारत' पड़ा। 'जय' नामक ग्रन्थ ८ हज़ार श्लोकों का था, ऐसा बहुत-से लोगों का अनुमान है और इसके समर्थन में अन्त:साक्ष्य भी हैं। इस प्रकार महाभारत-रचना के तीन स्तर, जो निश्चय ही तीन कालों में आकार ग्रहण कर सके होंगे, स्वयं महाभारत में वर्णित हैं। महाभारत ग्रन्थ न तो एक युग की रचना है, न एक व्यक्ति की रचना है। यह एक वंशानुचरित के द्वारा अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करनेवाली भारतीय परम्परा की व्यास-सृष्टि है। यह यद्यपि ८०० से १००० वर्षों में पूरी हुई, पर इसकी एकान्विति नहीं टूटी, क्योंकि इसमें कथाएं और उपाख्यान जोड़ने वाले इसकी मूल परंपरा के प्रति समर्पित थे। परंपरा की सृष्टि होने के कारण ही यह एक समग्र रचना है, जोड़ नहीं है। इसीलिए कहीं तो इसे 'कार्ष्ण वेद' कहा गया है, कहीं इसे 'जय नाम इतिहास' कहा गया है, और कहीं इसे 'भरतों का इतिहास' कहा गया है, कहीं इसे 'महाभारत आख्यान' कहा गया है, कहीं इसे 'भारत-सावित्री' कहा गया है, कहीं इसे 'वेद-सम्मित इतिहास' कहा गया है, और कहीं इसे ऐसा काव्य कहा गया है, जिसके बारे में कवि विशेषण देने में समर्थ नहीं हैं। यह उसी प्रकार कवियोंका उपजीव्य है, जिस प्रकार शेष तीन आश्रमों का गृहस्थ आश्रम उपजीव्य है। व्यास ने ब्रह्मा से जब कहा——

उवाच स महातेजा ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
कृतं मयेदं भगवन् काव्यं परमपूजितम्।।
ब्रह्मन् वेदरहस्यं च यच्चान्यत्स्थापितं मया।
सांगोपनिषदां चैव वेदानां विस्तरक्रिया।।

'मैंने यह काव्य रचा है, जिसमें वेद का रहस्य, इतिहास-पुराणों का उन्मेष, तीनों कालों की व्यवस्था है—इसके लिए मुझे कोई लेखक चाहिए—' तो ब्रह्मा ने यह उत्तर दिया—'मैं आपको तपस्वियों से, मौन-व्रत का आचरण करनेवाले मुनियों से, अधिक श्रेष्ठ मानता हूं, क्योंकि आपने रहस्य जान लिया है, वह रहस्य जिसमें सबको संयोजित करने का ज्ञान है, जन्म से ही आपकी वाणी ब्रह्मवादिनी है (आज की भाषा में कहना चाहें तो समष्टि चित्त को आकलित करनेवाली है)। आपने अपनी रचना को काव्य कहा, यह काव्य ही होगा, आपको इसे लिखवाना है, तो गणेश का स्मरण कीजिए——

तपोविशिष्टादपि वै विशिष्टान्मुनिसंचयात्।
मन्ये श्रेष्ठतरं त्वां वै रहस्यज्ञानवेदनात्।।
जन्म-प्रभृति सत्यां ते वेद्मि गां ब्रह्मवादिनीम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्वया च काव्यमित्युक्तं तस्मात्काव्यं भविष्यति ।।
अस्य काव्यस्य कवयो न समर्था विशेषणे ।
विशेषेण गृहस्थस्य शेषास्त्रय इवाश्रमाः ।।
काव्यस्य लेखनार्थाय गणेशः स्मर्यतां मुने ।।

महाभारत अपने-आप में स्वयं एक महान् वृक्ष है और इसीलिए इसके भागों को पर्वों की संज्ञा दी गई है। आदिपर्व इसका मूल है। संभवपर्व इसके तने का विस्तार है। सभा एवं आरण्यक पर्व इसकी शाखाओं का विस्तार है। विराट् और उद्योग पर्वों में यह वृक्ष भीतर से दृढ़ हो जाता है। भीष्म पर्व तक पहुंचते-पहुंचते बड़ा छतनार हो जाता है। द्रोण में इसकी पत्तियां नई हो जाती हैं, कर्णपर्व में फूल लगते हैं, शल्यपर्व में उन फूलों की सुगन्ध व्याप्त होने लगती है, स्त्रीपर्व में फल ग्रहण करने के पूर्व की तैयारी होती है, शान्तिपर्व में फल लगते हैं, अश्वमेध में उन फलों में 'अमृत रस' आता है, और अन्तिम पर्व में वह रस आस्वादनीय बनकर प्रस्तुत हो जाता है।

महाभारत वृक्ष भी है, और आगे के कवियों के लिए पर्जन्य-सदृश रसदाता भी है। यह स्वयंप्रकाश है और 'लोक-गर्भगृह' को प्रकाशित करने वाला भी है। महाभारत एक रचना नहीं, भारतीय (भौगोलिक या नस्ली अर्थ में नहीं, वैचारिक अर्थ में) जाति की रचना की समस्त क्षमताओं का अन्वेषण है। यह एक कहानी नहीं, कहानियों की कहानी है, क्योंकि महाभारत कई युगों का, कई सामाजिक अवस्थाओं का और कई मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का घात-प्रतिघात है।

इन उल्लेखों से यह स्वतः सिद्ध है कि महाभारत का आकलन समग्र भारतीय चिंतन-धारा का आकलन है। एक प्रेरक कथासूत्र के माध्यम से इसमें न केवल धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (चारों पुरुषार्थों) से सम्बद्ध शास्त्रों के चिन्तन जुड़े हैं, न केवल अनेक युगों की सामाजिक व्यस्थाओं की अपेक्षा करके नैतिकता के अनेक प्रकार के आयाम प्रस्तुत किए गए हैं, न केवल धर्म और अधर्म के बीच, बल्कि धर्म के ही छोटे-बड़े अभिमानों के बीच संघर्ष की स्थितियों के निरूपण के द्वारा एक बृहत् मानवीय सत्य की अवतारणा कराई गई है। इन सब उद्देश्यों का अतिक्रमण करके भारत के सावित्र रूप का प्रकाश आलोकित किया गया है, जिसका सबसे बड़ा मूल्य है—सत्य।

महाभारत को जिस अर्थ में इतिहास कहा गया है उसकी पृष्ठभूमि समझ करके ही ऐतिहासिक अवधारणा के सन्दर्भ में उसका मूल्यांकन करना चाहिए। 'इतिहास' शब्द का प्रयोग वैदिक वाङ्मय से ही प्रारम्भ हो जाता है और यास्क के 'निरुक्त' में वैदिक नामों के निर्वचन के सन्दर्भ में अपना अलग मत रखनेवाले ऐतिहासिकों की चर्चा जगह-जगह मिलती है। उससे भी पूर्व छांदोग्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपनिषद् में विद्याओं की परिगणना के प्रसंग में इतिहास का उल्लेख मिलता है। इतिहास का निर्वचन है—'इति ह आस'––'ऐसा रहा है'––अर्थात् इस अर्थ में इतिहास की दृष्टि वर्तमान में केन्द्रित है, ऐसा वर्तमान जो अतीत के सातत्य में है, एक प्रकार से यह अतीत की घटनाओं के वर्तमान के सन्दर्भ में प्रत्यवलोकन की दृष्टि है। इसका प्रारंभ उन नाराशंसी गाथाओं से हुआ, जो दिवंगत पुरुषों के स्मरणमें पितरों से संवद्ध अनुष्ठानों के समय पढ़ी जाती थीं; पहले ये कुटुंव के कुल से संबद्ध से होती थीं, वाद में कुटुंव के विस्तार के साथ-साथ जातीय गौरव-बोध के रूप में न केवल उस कुटुंब के द्वारा, वल्कि समस्त राष्ट्र द्वारा पूर्व-पुरुषों के स्मरण के अवसर पर गाई जाने लगीं। इन पूर्व-पुरुषों को अपने वर्तमान से संपृक्त करना और पितृपरक अनुष्ठान को सन्तान की वृद्धि से जोड़ना प्राचीन भारतीय परंपरा की मूलभूत विशेषता है। इस प्रकार भारत में इतिहास का जन्म इस वंश-विस्तार के स्मरण से होता है, और इस अर्थ में पुराण से भिन्न है कि पुराण में वंश-विस्तार केवल एक अंग है, उसका मुख्य प्रतिपाद्य सृष्टि-विस्तार और मनुष्य और देवता के बीच संबंध का लोक-रोचक शैली में निरूपण है, वहां पुरानी चीज़ नये रूप में प्रस्तुत की जाती है, दूसरे शब्दों में वहां एक कालातीत वास्तविकता का प्रतिरूप मिथक-शृंखला के रूप में रचा जाता है।

महाभारत और रामायण पुराण नहीं हैं। ये दोनों उत्तरवर्ती वाङ्मय में इतिहास-काव्य रूप में बार-वार स्मरण किए गए हैं। साहित्य-मनीषियों ने तो यहां तक कहा है कि रामायण और महाभारत (भारतीय) कविता के मुख्य स्रोत हैं और रामायण और महाभारत के पात्र और उनसे संबद्ध घटनाएं प्रख्यात होने के कारण उस प्रकार कल्पित नहीं हैं, जिस अर्थ में वहुत-सी प्रेम-कथाओं के नायक और उनसे संबद्ध कथानक कल्पित हैं। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि भारतीय परंपरा ने महाभारत और रामायण को कल्पित सत्य के रूप में कभी स्वीकार नहीं किया, और न इसके मनुष्य-पात्रों को मिथक के रूप में स्वीकार किया। पाणिनि की अष्टाध्यायी में (जिसका समय किसी भी दशा में ईसा की पांचवीं शताब्दी [पूर्व] के बाद नहीं रखा जा सकता।) अनेक व्यक्तिवाचक नामों का उल्लेख शब्द-रचना के प्रसंग में मिलता है। उनमें अर्जुन, वासुदेव जैसे महाभारत के पात्रों के नाम मिलते हैं। पाणिनि के लिए ये व्यक्तिवाचक नाम कल्पित नहीं हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर जो भी वंशावलियां विभिन्न पुराणों और रामायण, महाभारत में मिलती हैं, उनको आधार मानकर विभिन्न प्रयत्न अनेक विद्वानों ने किया है। श्रद्धेय श्री राय कृष्णदास ने बहुत परिश्रम से इन वंशावलियों के आधार पर मनु से प्रारंभ करके महाभारतकालीन राजाओं तक वंशावली का पुनर्निर्माण किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उन्होंने प्रत्येक राजा के राज्य-काल के लिए एक औसत मान रखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि लगभग ईसा-पूर्व तीन हज़ार वर्ष से लेकर ईसा-पूर्व १४०० तक महाभारत-काल के सभी राजवंश आ जाते हैं। स्वयं महाभारत-काल के निर्धारण का आधार यह उल्लेख है कि परीक्षित के लगभग १०५५ वर्ष बाद नंदों का प्रादुर्भाव हुआ, इससे भी महाभारत-युद्ध का समय १४०० ई० पूर्व से १४१४ ई० पूर्व के बीच में ही स्थापित किया जाता है। श्रद्धेय राय कृष्णदास ने अनेक ऐसी गुत्थियों का समाधान प्रस्तुत किया है जो कई राजाओं के नाम होने के कारण उपस्थित होती हैं—जैसे जनमेजय, परीक्षित, धृतराष्ट्र, दिलीप—जैसे नाम कई वंशों में, कई कालों में मिलते हैं और ब्राह्मण वांङ्मय या उपनिषद्-वाङ्मय में उन नामों के उल्लेख से महाभारतकालीन नामों को जोड़ने का जो प्रयत्न किया जाता है, और इस प्रकार के जोड़ से महाभारत की असत्यता का निष्कर्ष निकाला जाता है, उसका समाधान श्रद्धेय राय साहब द्वारा प्रत्याकलित वंशावली से हो जाता है। पर महाभारत-घटना की तिथि पूरे महाभारत के सत्य के आगे बहुत नगण्य है। तिथि की वास्त-विकता उसी तरह बड़ी है, जैसे ईसा की पहली सदी की मथुरा में मिली सोडस की पटिया में श्रीकृष्ण-जन्म के उल्लेख से श्रीकृष्ण की सनातन लीला कहीं अधिक बड़ी है। पश्चिमी दिमाग और हिन्दुस्तानी कलेवर के लिए भले न हो, हिन्दुस्तानी के लिए तो है ही। महाभारत-घटना की तिथि पर बहस इसलिए सहज किताबी अर्थ रखती है, महाभारत इतिहासकाव्य की गंभीरता की चर्चा ही वास्तविक अर्थ रखती है।

'महाभारत-युद्ध' यह नाम ग्रंथ के कारण पड़ा है। वस्तुत: यह कौरव-पांडव युद्ध था, और महाभारत का वर्ण्य-विषय मूलरूप में युद्ध नहीं है, वह है एक राजवंशों की दो शाखाओं की कहानी के माध्यम से एक व्यापक धार्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक नैतिक सत्य की प्रतिष्ठा। युद्ध उस सत्य की प्रतिष्ठा में एक निकष का काम करता है। इस ग्रन्थ में देवताओं और असुरों के पौराणिक संघर्ष की तरह दो विरोधी नैतिक स्थितियों का संघर्ष नहीं वर्णित हुआ है, इसमें राजनीति के तात्कालिक और सीमित मूल्यों से ऊपर उठकर ऊंची नैतिकता का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है। यह छोटे और संकीर्ण धर्म तथा बड़े और व्यापक धर्म के पारस्परिक तनाव की कहानी है। यह छोटे सत्य और महासत्य के टकराव—और अंत में महासत्य में छोटे सत्य के विलय की—कहानी है।

यह अप्रासंगिक नहीं है कि महाभारत के प्रारम्भ में दो वृक्षों की कल्पना की गई है। एक वृक्ष है दुर्योधन, मन्युमय—अर्थात् क्रोध, ईर्ष्या-जैसे विकारों का आगार। कर्ण इस वृक्ष का तना है। शकुनि इसकी शाखा है। दुःशासन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसके फल-फूल और विचार-शून्य धृतराष्ट्र इसकी जड़ है। दूसरे वृक्ष हैं—युधिष्ठिर, धर्ममय —सत्य, अहिंसा, करुणा जैसे गुणों के आगार। अर्जुन इसके तने हैं। भीम इसकी शाखा हैं और नकुल-सहदेव इसके फल-फूल। इसकी जड़ हैं श्रीकृष्ण, वेद की ज्ञानराशि और उस ज्ञानराशि को आत्मसात् करने वाले ब्राह्मण।

वस्तुतः कहानी से अधिक जब हम महाभारत के और अधिक सार्थक महत्त्व की तलाश करते हैं, तो उसका काव्य-रूप ही शाश्वत रूप से आधुनिक लगता है। पूरा-का-पूरा काव्य मृत्यु के भय, मृत्यु की निर्ममता और मृत्यु की करुणरूपता की तीन धाराओं में प्रवहमान होकर अन्त में मानवीय सम्वेदना की एक चरम निश्चल शांति में मिल जाता है। मृत्यु के इस तीन रूपों की पहचान कितनी विश्व-व्यापक है और कितनी सनातन है, और इस मृत्यु के द्वारा जीवन में किस प्रकार मानवीय संपृक्तता लाई जा सकती है, यही महाभारत का मूल मर्म है।

मृत्यु के तीन रूप महाभारत में मुख्यतः दीखते हैं—एक तो विभीषिका वाला रोमहर्षक रूप, दूसरा अत्यन्त निर्मम और दुर्निवार रूप, तीसरा मृत्यु का जीवनापेक्षी रूप। पहले रूप में मृत्यु नृशंस है, पर साथ ही मोचक भी है। अर्जुन को इसी रूप में मृत्यु का साक्षात्कार युद्धस्थल में होता है, गांडीव हाथ से सरकने लगता है, अंग थहराने लगते हैं, मुंह सूखने लगता है, सर्वांग जलने लगता है और यह साक्षात्कार अर्जुन को प्रणिपात-परायण बना देता है। मृत्यु के भय के कारण ही अर्जुन गीता के उपदेश का अधिकारी होता है, क्योंकि मृत्यु के भय से एक ओर उसका अभिमान टूटता है, दूसरी ओर भगवदभिमुखता जागती है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में इसीलिए सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय पहला है। शेष अध्याय तो मृत्यु के द्वार से जीवन-दर्शन की झांकी है, पर मृत्यु ही तो द्वार है।

दूसरा रूप दिखाया जाता है धृतराष्ट्र को। विदुर महानाश के बाद अपने बड़े भाई को समझाते हुए काल के निर्मम और दुर्निवार रूप का चित्र खींचते हैं—

कालः कर्षति भूतानि सर्वाणि विविधान्युत।
न कालस्य प्रियः कश्चिन्न द्वेष्यः कुरुसत्तम॥
यथा वायुस्तृणाग्राणि संवर्त्तयति सर्वशः।
तथा कालवशं यान्ति भूतानि भरतर्षभ॥

—काल समस्त प्राणियों को खींचता है, उसका न कोई प्रिय है, न द्वेष्य। जैसे हवा वृक्षों के अग्रभाग को चारों ओर झुकाती रहती है, वैसे ही काल समस्त प्राणियों को अवश बनाकर झुकाता रहता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस निर्मम रूप के आगे मनुष्य की कितनी अवशता है, यह बतलाने के लिए विदुर मिट्टी के बर्तन की उपमा लेते हैं—

यथा च मृण्मयं भाण्डं चक्रारूढं विपद्यते ।
किंचित्प्रक्रियमाणं वाकृतमात्रमथापि वा ।।
छिन्नं वाप्यवरोप्यन्तमजीर्णमथवापि वा ।
आर्द्रं वाप्यथवा शुष्कं पच्यमानमथापि वा।।

जैसे मिट्टी का वर्तन चाक पर रखते-रखते कभी टूट जाता है, कभी हाथ से कुछ शुक्ल लेते, कुछ गढ़े जाते ही, कभी चाक से काटकर निकालते भर में, कभी नीचे रखे जाने पर, कभी गीले रहते, कभी सूख जाने पर, कभी पकाते समय, कभी आंवा से निकलते-निकलते, कभी निकाले जाने पर, और कभी उस पात्र में भोजन करते समय, उसी प्रकार मनुष्य का शरीर कभी गर्भ में ही मृत्यु को प्राप्त होता है, कभी जन्म लेते-लेते, कभी एक महीने का होकर, कभी एक वर्ष या दो वर्ष का होकर, कभी जवान होकर, कभी अधेड़ होकर, कभी वृद्ध होकर। मृत्यु उम्र नहीं देखती, वह अवश्य आती है, एक तरह से जन्म के साथ ही वह प्राणी के साथ चलती रहती और मौका देखकर दबोच लेती है।

विदुर का यह उपदेश मोहग्रस्त धृतराष्ट्र के लिए है, धृतराष्ट्र जो अधर्म रूपी वृक्ष के मूल हैं। अधर्म ही अपमृत्यु का कारण होता है और यह महानाश अधर्म के कारण हुआ, इसीलिए मृत्यु का इतना निर्मम रूप ही अधर्म के मोह-तम को चीर सकता है। यह सोचकर विदुर छोटे भाई होते हुए भी सांत्वना के पहले यह चित्र उपस्थित करते हैं।

तीसरा रूप है करुण और मानवीय, जिसका साक्षात्कार धर्मराज युधिष्ठिर को होता है—'यह महानाश मेरे कारण हुआ! धिक्कार है इस क्षात्रधर्म को, धिक्कार है बल को, पौरुष को, अमर्ष को कि हम इस दुरंत स्थिति को प्राप्त हुए हैं! सही बात तो यह है कि हमारे शत्रु जीते, क्योंकि उनका मनोरथ पूरा हुआ, हम अभागे बंधुहीन होकर अपने से ही अपना नाश करके जीवित हैं। हम उन कुत्तों से किस माने में विलग हैं, जो मांस के लिए जीभ लपलपाते रहते हैं। जिस दिन के लिए माता-पिता जप-तप, पूजा-पाठ करते हैं, देवताओं की मनौती मानते, देवताओं की आशा करते है कि पुत्र होगा, सुख देगा, वह दिन उनसे छिन गया, वह आशा टूट गई, और यह हमारे कारण हुआ, यही दुनिया कहेगी! कैसे मैं राज्य भोगूं —

अमित्रा न समृद्धार्था वृत्तार्थाः कुरवः किल ।
आत्मानमात्मना हत्वा किंधर्मफलमाप्नुमः ।।
धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम् ।
धिगस्त्वमर्षं येनेदमापदं गमिता वयम् ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

युधिष्ठिर की यह आकुलता भयजन्य नहीं है; युद्ध में वे स्थिर रहे, युद्ध वे चाहते नहीं थे, पर उपस्थित हुआ तो स्थिर रहे; पर युद्ध के परिणाम से, और अपने पक्ष में युद्ध के परिणाम से जो वे व्याकुल हो उठते हैं, वह मृत्यु के भय के कारण नहीं, मृत्यु की निर्ममता के बोध के कारण नहीं, बल्कि अपना दायित्व मृत्यु के प्रति समझने के कारण। वे आनृशंस्य को सबसे बड़ा धर्म मानते हैं, वे महाभारत के इस मूल उद्‌देश्य के साथ हैं कि—

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति महीपते।
स गच्छति परं स्थानं विष्णोः पदमनामयम् ॥

मृत्यु से अभय देने वाला विष्णुपद को प्राप्त होता है, और चूंकि जीवन से कुछ भी अधिक प्रिय नहीं है, इसलिए जीवन की रक्षा ही सबसे बड़ा धर्म है। युधिष्ठिर मृत्यु से विचलित नहीं होते, बल्कि मृत्यु के प्रति अपने कर्तृत्व के कारण व्यथित होते हैं। उनके लिए मृत्यु एक मानवीय परिस्थिति है, दुर्निवार नहीं, भयावह नहीं, करुण है, क्योंकि उसके आते ही कितनी आशाएं, कितनी आकांक्षाएं टूटती हैं, और मनुष्य अपने भीतर से टूटने लगता है। महाभारत-कार इसी रूप को सामने रखकर महाभारत की फलश्रुति इसमें दिखलाना चाहते हैं कि राज्य आदि छोटे मूल्य हैं, बड़ा मूल्य है जीवन और उसकी रक्षा। मृत्यु का आघात जिस करुणा के स्रोत को उद्‌वेलित करता है, वह करुणा ही सबसे बड़ी मानवीय निधि है।

महाभारत का इस प्रकार चरम सत्य है, आनृशंस्य—मनुष्य के जीवन की रक्षा। युद्ध की नृशंस परिस्थिति इस सत्य के लिए पिछवाई का काम करती है— न मानुषात्परतरं किंचिदस्ति। मनुष्य—ऐसा मनुष्य जो प्राणिमात्र के सुख-दुःख में स्वयं शरीक हो सके, अपने सुख-दुःख में सबको शरीक कर सके—महाभारत का चरम सत्य है। यह पश्चिमी वीर-गाथाओं की तरह एक आदमी के दूसरे आदमी पर पराक्रम या विजय की गाथा नहीं, यह पूरे आदमी की ग़ैरआदमियत पर विजय की कहानी है। इसीलिए महात्मा गांधी हिंदुस्तान में आते हैं, तो हिंदुस्तान का आदमी सोचता है—युधिष्ठिर फिर वापस आए हैं। महाभारत की घटना के बारे में विवाद छेड़ने वाले इस विराट् और सनातन महासत्य को विवाद का विषय बनाकर जो कर रहे हैं, उसे देखकर यही कहना पड़ता है : 'अस अरिहूं न करांहि !'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३

भारतीय इतिहास-बोध और भारत का प्रबुद्ध मानस

इतिहास के सम्बन्ध में आधुनिक भारतीय मानस में एक संकोच का भाव आ गया है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन अनैतिहासिक चिन्तन होने के कारण शायद कुछ अप्रामाणिक या कुछ कम प्रामाणिक न ठहरा दिया जाए। इसलिए इतिहास की दृष्टि प्रत्यारोपित करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न किए गए हैं। परन्तु इतिहास-सृष्टि या इतिहास-बोध किसी भी जातीय बोध के समग्र रूप का एक पहलू या खण्ड-मात्र होता है और जब तक उस समग्र वोध के सामंजस्य में उसे रखकर न देखा जाए, तब तक इतिहास-सृष्टि या इतिहास-बोघ को सार्थक नहीं माना जा सकता। यह भी संभावना है कि उसे अलग से देखकर उसके आधार पर जातीय चेतना का मूल्यांकन किया जाए तो वह मूल्यांकन बड़ा ही विरूप और असमंजस हो सकता है।

हर संस्कृति का इतिहास-बोध उसके काल-बोध से जुड़ा हुआ है। भारतीय जीवन-पद्धति में काल की वास्तविकता को दो रूपों में सार्थक है: एक तो प्रतिक्षण आवर्तमान काल जो कभी चुकता नहीं, जो निरन्तर पूरा होता रहता है इसलिए अब्द, ऋत जैसे शब्द इसके प्रवाहात्मक अर्थ को ही विशेष रूप से व्यंजित करते हैं। ऋतु का व्युत्पत्तिपरक अर्थ होता है 'गतिशील', और अब्द का 'कभी न गिरने वाला'। ऋतु-चक्र या वर्ष-चक्र का वैदिक अनुष्ठान में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। वर्ष का दूसरा नाम संवत्सर है। इसे अग्नि, यज्ञवेदी, यज्ञ, यजमान और प्रजापति इन सबके साथ एकात्म बतलाया गया है। ब्राह्मणों में इस वर्ष-चक्र की यज्ञ-प्रक्रिया के संदर्भ में स्थान-स्थान पर व्याख्या प्रस्तुत की गई है। यज्ञ का उद्देश्य एक ओर यदि प्रजापति (स्रष्टा) का पुनर्जीवन है, तो वहां दूसरी ओर खण्डित वर्ष का पुन: आकलन भी है; दूसरे शब्दों में, इसे सावधि काल को निरवधि काल में रूपान्तरित करने की प्रक्रिया भी कह सकते हैं। मिर्चे: इलियाद ने अपने ग्रन्थ 'कास्मास एण्ड हिस्टरी' में इसकी ठीक ही व्याख्या की है कि भारतीय भावना में सृष्टि के आरंभ के साथ जुड़ने की और उससे एकान्वित होने की बात इतनी सबल है कि प्रत्येक अनुष्ठान में मुख्य उद्देश्य जिस रूप में सृष्टि दीख रही है उसके प्रादुर्भाव के सकल लक्षण का प्रादुर्भाव होता है। सर्वमेध या पुरुष-मेध का अर्थ खींचकर जो नर-बलि की ओर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ले जाना चाहते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि पूरा का पूरे चिन्तन परोक्ष चिन्तन है, जिसमें प्रतीक से अधिक प्रतीकार्थ पर बल है, इसलिए पुरुष-सूक्त जैसे सूक्तों में पुरुष को हविष बनाने की बात किसी मानवीय देह से उद्भूत न होकर पूरी प्रपंचात्मक सृष्टि के विश्लेषण से उद्भूत है, जिसके अन्तर्गत न केवल ऋतु-चक्र आता है, न केवल समस्त प्राणिजगत् आता है, बल्कि पूरी सामाजिक व्यवस्था और मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना भी आ जाती है। इस यज्ञ के द्वारा देवताओं ने यज्ञ की ही उपासना की है; दूसरे शब्दों में, खण्ड को अखण्ड बनाने की प्रक्रिया को ही परम उपास्य के रूप में प्रस्थापित किया है। इस प्रकार खण्ड-रूप में भी काल-बोध भारतीय चिन्तन में अखण्ड बोध का साधन है, स्वयं में साध्य नहीं।

अधिकांश भारतीय दर्शनों में स्वयं सृष्टि काल के भीतर न होकर कालातीत होती है और काल सृष्टि का अंगीभूत होकर सृष्टि-प्रक्रिया के प्रतिभास के रूप में उद्भासित होता है। इसलिए काल का सावधि रूप उतना महत्त्व न रखकर निरवधि रूप ही महत्त्व रखता है, चाहे दैनिक अनुष्ठान हो, चाहे कथा-साहित्य हो, चाहे काव्य-योजना हो, चाहे पुराण-रचना हो, चाहे शिल्प हो चाहे नाट्य-कला हो, सर्वत्र इसी निरविध काल के व्यंजन के रूप में सावधि काल की ऊर्मियां नर्तनशील दिखाई गई हैं।

यह आकस्मिक संयोग-मात्र नहीं है कि भारतीय ज्योतिष गणना निरयन गणना है, जिसमें सृष्टि के आरंभ के क्षण की स्थिति आज की दृश्य स्थिति से अधिक महत्त्व रखती है, क्योंकि जीवन का सृष्टि के प्रथम क्षण के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है, उसका केवल अभिव्यंजन एक सावधि क्षण के माध्यम से आज हो रहा है। यह भी केवल आकस्मिक नहीं है कि महाकाव्यों में षड्-ऋतु-वर्णन की परम्परा रूढ़ हुई या कथा-साहित्य में जन्म-जन्मातर-व्यापी प्रेम का कथानक इतना लोकप्रिय हुआ, या आनुष्ठानिक कल्पना में एक में गुंथे हुए लता और पक्षियुग्म-अभिप्रायों को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान मिला। इन सबके पीछे प्रवहमान अनन्तकाल की शृंखला का अनुबोधन खण्ड-काल के माध्यम से करना ही अभिप्रेत रहा है।

कुछ आधुनिक विचारकों ने ऐतिहासिक सापेक्षता की बात उठाते हुए यह स्थापना की है कि जिस प्रकार भौतिक विज्ञान में प्रत्येक गति का आकलन प्रेक्षक की स्थिति पर आधारित है, उसी प्रकार इतिहास में भी प्रत्येक मानदण्ड का अपरिहार्य रूप से निर्धारण उस बिन्दु से होता है, जहां पर कोई ग्रहीता स्थित है और जिससे वह उद्भूत है (एर्न्स्ट ट्रेल्स)। स्पेंग्लर ने ऐतिहासिक सीमा की ओर संकेत करते हुए यह कहा कि हम पूरी इतिहास-व्याख्या के सहज केन्द्र के रूप में किसी विशेष भू-भाग को चुन लेते हैं, उसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को हम केन्द्रवर्ती सूर्य मान बैठते हैं, इसी से इतिहास की समस्त घटनाएं वास्तविक प्रकाश पाती हैं। स्पेंग्लर के आलोचकों ने भी इतना तो स्वीकार ही किया है कि ऐतिहासिकता की सीमा है, वह सीमा है यह केन्द्रभूत धारणा कि मानस मानव के लिए पवित्र है। स्पेंग्लर की दूसरी बात यह भी अब मानी जाने लगी है कि विश्व-इतिहास यूरोप-केन्द्रित ही नहीं है; पर इसके बावजूद पश्चिम का विचारक अब भी मूल्य-बोध को या सत्य की प्रमाणभूत कसौटी को सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्त्य (वेरिएबल्) का ही व्यापार मानता है। वह इसीलिए इतिहास के निरपेक्ष मूल्य को स्वीकार न करते हुए भी उसके बन्धन से अपने को मुक्त नहीं कर पाता है, क्योंकि वह यह मानकर चलता है कि कोई भी व्यक्ति अपने काल का अतिक्रमण नहीं कर सकता है और प्रत्येक विचारक अपने युग की सन्तान होता है। दूसरे शब्दों में, ऐतिहासिक कार्य-कारण-परम्परा से अलग जाकर किसी घटना को समझने की कोशिश पश्चिमी चिन्तन में उपहासास्पद समझी जाती है। अधिक से अधिक यही संभव प्रतीत होता है कि कार्य-कारण-परम्परा को एक अपरिहार्य विसंगति के रूप में देखकर मनुष्य की नियति पर आक्रोश व्यक्त किया जाए। इतिहास में बंधे प्राणी की छटपटाहट की मुक्ति का यही चरम स्वरूप पश्चिमी विचारक की दृष्टि में संभव है।

प्राचीन भारतीय दृष्टि इसी माने में 'अनैतिहासिक' है कि वह इतिहास के प्रामाण्य को न तो स्वीकार करती है और न उसे अस्वीकार ही; वह इसका अतिक्रमण करके एक नैरन्तर्य-बोध के द्वारा इतिहास को भी प्रमाणित करती रहती है। इतिहास शब्द का मूल अर्थ है 'इति ह आस' (ऐसा ही होता आया है) अर्थात् क्रिया यहां भूतकालिक नहीं है, यह पूर्ण वर्तमानकाल की द्योतक है। दूसरे शब्दों में भारतीय कल्पना के अनुसार इतिहास के द्वारा जो विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है, वह विवरण अतीत की घटना का वर्तमान की सापेक्षता में प्रस्तुत विवरण नहीं है, वह विवरण वर्तमानता या शाश्वत प्रवहमानता में ही प्रमाणित विवरण है। इसलिए चार युगों, इकहत्तर चतुर्युगों, चौदह मन्वंतरों, सत्ताइस कल्पों और वत्सरों, संवत्सरों और परिवत्सरों की बात आवर्तमान काल के ऊपर बल देने के लिए की गई है। ऊपर से देखने पर यह काल-गणना बड़ी अवास्तविक और बड़ी बेकार लगती है, पर गहराई में जाने पर इसमें एक भीतरी प्रयोजनवत्ता दीखती है, वह यह कि काल के एक बड़े खण्ड के अवयव के रूप में छोटे खण्ड की और भी बड़े अवयव के रूप में, इस बड़े खंड को, और इन सबको अन्त में एक महाकाल के अवयव के रूप में देखना अधिक वास्तविक काल-बोध है। जिस रामायण और महाभारत को इतिहास संज्ञा दी गई है, वह आज के अर्थ में इतिहास नहीं है, क्योंकि एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रमिक वंश के विस्तार की बात होते हुए किसी न किसी रूप में सृष्टि के आवर्तन-क्रम का बार-बार विवरण सन्निविष्ट करके मानवीय इतिहास को उसकी सीमा से निरन्तर ऊपर उठाने की कोशिश की गई है। मनुष्य केवल मनुष्य के लिए ही पवित्र नहीं है, बल्कि समस्त सृष्टि में मूल्य-बोध के प्रतिष्ठापक के रूप में, समस्त सृष्टि में सामंजस्य के स्थापक के रूप में और समस्त आध्यात्मिक सत्ता को प्रमाणित करने वाले चेतन जीव के रूप में वह श्रेष्ठ है, परतर है (उसके लिए कोई पर नहीं है)—न मानुषात्परतरं किंचिदस्ति—मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, क्योंकि श्रेष्ठता का निर्धारक यदि कुछ है तो मनुष्य की अपरता या आत्मीयता ही है, जिसके कारण उसकी जीवन-यात्रा पूर्ण चैतन्य की अद्वितीय और एकमात्र अभिव्यंजक होती है। इससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास-बोध मानव को उसकी नियति से पृथक् न देखकर उसको केवल नियन्ता या नियत नहीं मानता, मनुष्य इस दृष्टि से अनैतिहासिक चिन्तन में—नियन्ता, नियति और नियत—तीनों है।

किन्तु इससे यह समझना कि भारतीय इतिहास-बोध केवल काल-चक्र के आवर्तन के बोध तक सीमित है और उसमें प्रगति की कोई संभावना नहीं है, बहुत बड़ी भूल होगी; क्योंकि चक्र-परिवर्तन की बात आदिम मानवीय प्रकृति-सम्पृक्त चिन्तन से संभूत होते हुए भी भारतीय चिन्तन की विकसित अवस्था में एक केन्द्रिक चक्र से ऊपर उठकर एक बहु-केन्द्रिक आरोही शंख-वलयों के रूप में परिणत हो जाती है, ये शंख-वलय अन्त में एक अनन्त शिखर-बिन्दु में विलीन हो जाते हैं। वस्तुत: काल-बोध एक प्रतिभासिक प्रतीति-मात्र है, यहां तक कि वर्तमान भी वास्तविक रूप में सत् नहीं है; वस्तुतः खण्ड-काल की प्रतीति एक ओर सूक्ष्मतर खण्ड में जाकर सत्-रूप में होती है, दूसरी ओर अखण्ड या अनन्त में जाकर—इस प्रकार वह शून्योन्मुख और अनन्तोन्मुख के रूप में ही सत् है। अभिनवगुप्तपाद ने अपनी ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी में इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि सत् न तो केवल कोई काल-निरपेक्ष प्रतीति है, न दिक्काल से नियंत्रित प्रतीति है, बल्कि यह दिक्काल से अलग रह सकने की अपनी क्षमता की प्रतीति है, पर इसके साथ ही ऐसी क्षमता की प्रतीति भी जो दिक्काल में संसक्त हो सकती है। यह प्रतीति उस आदिम धारणा से अलग है जो सृष्टि प्रक्रिया के बीच-बीच में प्रलय की अपरिहार्यता को स्वीकार करती हुई पुन:सृष्टि के आरंभ के कालातीत क्षण में प्रतिनिवर्तन कराती रहती है क्योंकि यह सृष्टि-चक्र के पुनरावर्तन में नई संभावनाओं की उद्भावना करती है। यह उद्भावन अवतार और उसकी लीला के द्वारा एक ओर, और जीवन-मुक्त होने के बाद भी लोक के दु:ख के लिए जन्म और मृत्यु के बन्धन को वरण करनेवाले बोधिसत्त्व या अर्हत् या परमहंस भक्त के चरम मानवीय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदर्श द्वारा दूसरी ओर कराई जाती है, जिससे एक ओर तो एक अंतिम और अपरिवर्तनीय मानवीय नियति की धारणा का खण्डन संभव होता है, तो दूसरी ओर आध्यात्मिक सत्ता की तटस्थ और असम्पृक्त प्रकृष्टता का भी प्रत्याख्यान संभव होता है। इसका सहज परिणाम यह होता है कि भारतीय प्रतिभा इतिहास को अस्वीकार करती हुई भी इतिहास के आतंक को ज़रूर नकार देती है, क्योंकि इतिहास तभी आतंकित कर सकता है जब वह कार्य-कारण परम्परा को जन्म दे, जब इतिहास स्वयं किसी महत्तर उद्देश्य की अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र हो, तो वह आतंक नहीं उत्पन्न कर सकता।

पश्चिमी चिन्तन में इतिहास के प्रति आबद्ध भाव ने ही एक निश्चित और ध्रुव-मानक जीवन-मूल्य की अवधारणा पर विशेष वल दिया है। ग्रीक चिन्तन में डाइकी (न्याय-व्यवस्था) का महत्त्व सर्वोपरि था। इसके विपरीत समानान्तर वैदिक चिन्तन में समचित्तता पर या समतालता पर विशेष बल दिया गया है और समतालता मन, वचन और कर्म तीनों में अपेक्षित है, केवल मनुष्य और मनुष्य के बीच ही नहीं, बल्कि मनुष्य और विश्व के बीच भी। इसी समतालता को सौमनस्य कहा गया है। यह उल्लेखनीय है कि व्यवस्था या ऋत किसी एक निरपेक्ष सत्य से उद्‌भूत न होकर ऋत और सत्य दोनों तपस्-आदि चैतन्य शक्ति के उत्ताप से उद्‌भूत माने गए हैं। ग्रीक सामाजिक व्यवस्था की कल्पना व्यक्तियों की विविधता से नगर-समुदाय की एकता में सतही परिणति के रूप में व्याख्यायित थी। पर तपस् से ऋत और सत्य की उत्पत्ति की बात एक साथ दो दिशाओं में गतिशीलता का संकेत करती है, एक ओर यह भीतर सघन केन्द्र के असंख्य वृत्तों में अपरिमित आकारों में अप्रमेय रूपान्तर की प्रक्रिया है; दूसरी ओर यह इस विस्तार के द्वारा अस्तित्व के भीतरी अभिप्राय के साथ तादूप्य की अन्तर्मुखी प्रक्रिया भी है। जहां पश्चिमी चिन्तन में ग्रीक चिन्तन की परम्परा में एक विश्व की अद्वितीयता और निरपेक्षता पर बल है, वहां भारतीय चिन्तन में अनेक विश्वों की सहवर्तिता और उसकी सापेक्ष मूल्यवत्ता पर ही विशेष बल दिया गया है। इसीलिए यहां मनुष्य और विश्व के बीच, मनुष्य और मानव-समाज के बीच, पूर्ववर्ती और परवर्ती मानव-समाज के बीच कार्य-कारण-सम्बन्ध की बात बेमानी हो जाती है; परस्पर अन्तरवलम्बिता की बात ही ज़्यादा अर्थ रखती है।

इस प्रकार भारतीय चिन्तन में इतिहास-बोध एक सीमित मानवीय सन्दर्भ से मुक्त होकर अधिक व्यापक चेतन सन्दर्भ से जुड़कर पुराण-बोध (पुराने के नए रूप में नवजायमान होने के बोध) में परिणत हो जाता है। यह पुराण-बोध खण्ड-काल का तो अतिक्रमण करता ही है, खंड देश का भी अतिक्रमण करता है। इसीलिए भारतीय चिन्तन के संदर्भ में किसी जाति-विशेष या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भौगोलिक खण्ड-विशेष की चेतना की बात अप्रासंगिक हो जाती है। इतिहास न तो मानवीय सोद्देश्यकता की परिपूर्ति है, न आगे की मानवीय यात्रा को प्रवर्तित कराने वाला ध्रुवतारा ही है। वह केवल मानवीय आकांक्षाओं की परिपूर्ति की लम्बी प्रक्रिया की बीच-बीच में टूटी हुई कड़ी-मात्र है। इसीलिए जिस प्रकार की वीर-पूजा पश्चिम में है, वह कम-से-कम भारत (भारत का अर्थ भारत देश नहीं, बल्कि भारत भाव) में नहीं है। जिस प्रकार इतिहास-पुरुष के रूप में मूसा, ईसामसीह और मुहम्मद साहब की प्रतिष्ठा है उस रूप में राम कृष्ण और बुद्ध की प्रतिष्ठा नहीं है। मूसा, ईसा मसीह और मुहम्मद साहब जातीय ऐतिहासिक उद्देश्यों की परिपूर्ति के प्रतिमान हैं। वे एक ईश्वरीय अभिप्राय के उत्कृष्टतम संकेत हैं। उनके साथ ही इतिहास की सोद्देश्यकता समाप्त हो जाती है और उनका अनुवर्तन ही मानव-इतिहास का चरम उद्देश्य बचा रहता है। ठीक इसके विपरीत राम, कृष्ण या बुद्ध ईश्वरीय प्रतिभू या प्रतिनिधि या विराट् मानवीय संभावना के सिद्ध उत्कर्ष बिन्दु नहीं हैं। वे समष्टि-चैतन्य के व्यष्टि-चैतन्य के रूप में ऐसे रूपान्तर हैं, जो व्यष्टि और समष्टि दोनों को एक साथ अपनी लीला से सार्थकता प्रदान करते हैं। साथ ही उनकी लीला एक दिक्काल-विशेष में घटित न होकर नित्य अभिव्यक्त और शाश्वत है, उसकी संभावना कभी चुकती नहीं। एक तरह से मनुष्य की अछोर आकांक्षा की तरह उनकी लीला भी अछोर है। इन लीला-पुरुषों की उपासना इतिहास-पुरुष के रूप में न होकर अपने बीच उपस्थित अपनी ईश्वरीयता के प्रमाण के रूप में या विराट् सृष्टि में स्पन्दित मानवीयता की नित्य अभिव्यंजना के प्रमाण के रूप में एक जीवन्त उपस्थिति के तौर पर की जाती है। जिस प्रकार की वीर-मूर्ति ·पूजा का भाव स्वाधीनोत्तर भारत में पश्चिम के प्रभाव से जगा है, वह भारतीय इतिहास-बोध का विपर्यास है। इसे मूर्ति-पूजा कहना भी उचित नहीं है, यह वस्तुतः मूर्ति-मोह है। इसलिए कभी शिवाजी की प्रतिमा तोड़ी जाती है तो कभी गान्धी की, कभी राम के चित्र पर जूते बरसाए जाते हैं, सीता को पात्र बनाकर विरूप कहानियां गढ़ी जाती हैं। मूर्ति का मोह होगा तो उस मोह का भंग भी होगा—और यदि मूर्ति अपने में वास्तविक न होकर भावना से वास्तविकता प्राप्त करेगी तो उस भावना के रहते मूर्ति भग्न भी हो जाए, तो उपासना की कोई क्षति नहीं होती, क्योंकि वह नयी मूर्ति तुरंत गढ़ लेगी। मूर्ति निरपेक्ष रूप से पवित्र नहीं, होती निरपेक्ष-रूप से देवता भी नहीं होती, इसलिए टूटा हुआ मन्दिर या भग्न मूर्ति उपास्य नहीं रह पाते हैं। जिस मूर्ति की उपासना अविच्छिन्न रूप से होती रहती है, वह चाहे मनुष्य-रचित आकार वाली हो या स्वयंभू हो, इससे कुछ खास बनता-बिगड़ता नहीं, क्योंकि उपासना सिद्ध वस्तु की नहीं होती—उपासना तो एक साधना है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिसमें उपास्य निरन्तर साध्य रहता है। सिद्ध इतिहास-पुरुष की कल्पना एक खंड-सृष्टि में बंधनेवाली उपासना है।

आज का भारतीय प्रबुद्ध वर्ग खण्ड-बोध का शिकार है इसलिए उसने अपने सांस्कृतिकदाय को भी ठीक-ठीक नहीं पहचाना है। वह सांस्कृतिक दाय को मूलवत्ता प्रदान करने के लिए खण्ड इतिहास-बोध का सहारा लेकर एक गौरवशाली इतिहास की रचना करने लगा है (बिना इस कल्पना के भी इतिहास कुछ कम गौरवशाली न था; हां यह ज़रूर था कि हिन्दुस्तान नामक देश का कोरा इतिहास न था, तब वह विशेष प्रकार की मानवीय साझेदारी का इतिहास था और उसके साझेदार तमाम दुनिया के वे सारे लोग थे, जो अपने को भारतीय या हिन्दू न कहते हुए भी एक विशेष प्रकार का विश्व-नागरिक मानते थे) और इस रचना के जाल में वह ऐसा फंस गया है कि कल्पित इतिहास के बचाव में वह पश्चिम के आदमी से भी अधिक संकीर्ण, रूढ़िवादी, राष्ट्रीयतावादी और भारतीयतावादी बनकर सही माने में भारत की अस्मिता से एकदम बिछुड़ गया है। इस बिछुड़न ने ही प्रबुद्ध मानव में एक विचित्र प्रकार की जड़ आक्रामकता उत्पन्न की है। यह आक्रामकता है अपने विरुद्ध, अपनी अस्मिता के विरुद्ध—इसीलिए इस बौद्धिक वर्ग की गति अवरुद्ध है और यह आक्रामकता एकदम विफल है।

यदि यह प्रबुद्ध वर्ग इतिहास के निर्माण और उस निर्माण की प्रतिरक्षा के बचकाने प्रयत्न से हटकर भारतीय इतिहास-बोध को ठीक तरह से ग्रहण करके विश्व-इतिहास को समझने की नयी दृष्टि दे सके, तो उसकी भारतीयता सही माने में प्रमाणित होगी ही, वह अतीत से वर्तमान को प्रमाणित करने की निरर्थकता का खण्डन करके समस्त मानव जाति के लिए अतीत के प्रमाण के रूप में वर्तमान की सार्थकता का सन्देश भी दे सकेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४

प्राचीन भारतीय साहित्य की मानवीय परिकल्पना

प्राय: यह भ्रम पश्चिमी दृष्टि से भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन करने वाले लोगों के मन में रहता है कि भारतीय चिन्तन में मानववाद और मानवीय मूल्यों से उद्भूत नैतिक धारणा का अभाव-सा है। इस भ्रम का सबसे बड़ा कारण यह है कि पश्चिमी चिन्तन में नगर-सभ्यता केन्द्र के रूप में उद्भूत हुई और नगर के एक सुघटित तथा संहत इकाई होने के कारण व्यक्ति का नगर-समुदाय के साथ सम्वन्ध बड़ा घनिष्ठ है। और नगर के अनुशासन का वन्धन भी सुव्यवस्था के लिए बहुत अपरिहार्य था। ऐसी स्थिति में मनुष्य के व्यक्ति के रूप में अस्तित्व का अनुभव स्वभावत: बहुत होता ही, और हुआ भी। मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक दायित्वों में एक तनाव भी हुआ तथा इस तनाव के भीतर रहते हुए भी जीने के कौशल को सभ्यता की संज्ञा दी गई। इस प्रकार पश्चिमी सभ्यता की पूरी संधारणा नगर-केन्द्रित और मनुष्य-केन्द्रित है। उस दृष्टि से भारतीय सभ्यता और मानव की परिकल्पना काफी अलग है। भारत में मनुष्य सृष्टि के केन्द्र में न होकर मनुष्य और सृष्टि के बीच बिम्बानुबिम्ब भाव ही केन्द्र में रहा। प्रत्येक मनुष्य का एक अलग विश्व है और प्रत्येक का एक अलग मानवीय धरातल है; इन तमाम विश्वों और धरातलों में एक अन्विति है, एकात्मकता है जो सबको सबसे जोड़े हुए है। मनुष्य की सामाजिक चेतना का विकास एक सीधी रेखा में इसलिए यहां होना पश्चिम की तरह मान्य नहीं है। यही कारण है कि प्रगति के सम्बन्ध में सीधी रेखा वाले मापदण्ड को स्वीकार करने वाले विचारक प्राय: भारतीय चिन्तन में एक प्रकार से प्रगति-अवरोधी दृष्टि ही देखने की कोशिश करते हैं।

भारतीय चिन्तन में मनुष्य की सामाजिक चेतना का विकास एक ही साथ दो दिशाओं में माना जाता है, एक भीतरी बिन्दु से अनेक वृत्तों के विस्तार के रूप में (जैसे तेल की बूंद पानी की सतह पर असंख्य वृत्त बनाती चलती है, बूंद भी नहीं दिखाई पड़ती और अन्तिम वृत्त का घेरा भी नहीं दिखाई पड़ता, केवल यही दिखाई पड़ता है कि एक बूंद फैल गई है, वैसे ही मनुष्य की सामाजिक चेतना एक बिन्दु से अप्रमेय वृत्तों में फैलती है) परिवार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से कुल, कुल से ग्राम, ग्राम से जनपद, जनपद से देश, देश से विश्व तक; दूसरी, बाहर के जगत् के प्रभावों के और मनुष्य के पूरे सामाजिक तथा प्राकृतिक परिवेश के मनुष्य की भीतरी सत्ता में अन्तर्लीन होने के क्रम के रूप में (जैसे एक शंख के भीतर के भीतर की असंख्य रेखाएं एक शिखर विन्दु में सिमटती-सिमटती मिल जाती हैं, वैसे ही विविध प्रकार के प्रभाव मनुष्य की अन्तश्चेतना को ठीक-ठीक परिभाषित करने के लिए अपनी विविधता का पूरा परिचय देते हुए उसे एक अद्वितीय निजता में परिणत कर देते हैं।) इस प्रकार यह विकास बरगद के विकास की तरह है—वह जितना ही ऊपर फैलता है उतना ही नीचे भी, इसीलिए वह न्यग्रोध और ऊर्ध्वमूल कहा जाता है। यह बरगद-संस्कृति ऊंचे-नीचे के क्रम को विपर्यस्त करती रहती है, कोई भी न तो निरपेक्ष रूप में उच्च रह पाता है और न नीच। वर्णाश्रम-व्यवस्था में जो वर्ण-स्तर पर ऊंच-नीच दिखाई पड़ना है, उसे आश्रम के साथ जोड़ने पर क्रम दूसरा हो जाता है। वर्णों में सबसे आदि वर्ण ब्राह्मण उच्च है। दूसरे शब्दों में वर्ण के स्तर पर जो शूद्र है, वही आश्रम के स्तर पर संन्यास, क्योंकि संन्यास आश्रम निर्वर्ण है, वह सेवा का आश्रम है। उसी प्रकार सीमित दृष्टि से देखने पर संन्यास सबसे ऊंचा है, परन्तु शुद्ध दृष्टि से देखने पर न तो ब्राह्मण वर्ण ऊंचा है और न संन्यास आश्रम; एक अवस्था-विशेष में दोनों ऊंचे हो जाते हैं, क्योंकि दोनों का दायित्व बड़ा हो जाता है—और दूसरी अवस्था में कुछ अधिकारों से और सुविधाओं से वंचित भी हो जाते हैं। व्यक्ति के रूप में ज्ञान की साधना करने वाला बड़ा है, व्यापार के रूप में सेवा की साधना सबसे ऊंची साधना है, क्योंकि मनुष्य-ऋण या भूत-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृऋण और देव-ऋण इन सबसे बड़ा है। शतपथ ब्राह्मण में इन चारों ऋणों की बात की गई है—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चार ऋणों के अपाकरण के साधन हैं। मनुष्य-ऋण अदा करने के लिए आदमी को अपनी उन सीमाओं के ऊपर उठ जाना होता है, जो उसके भिन्न स्तरों का बोध कराती हैं। वह पुनः निर्वर्ण होकर संन्यस्त रूप में अपने को एक सर्वमान्य की स्थिति में डालकर, विशिष्ट के रूप में अपनी सत्ता को शिखासूत्र के साथ विसर्जित कर अपने समस्त विशिष्ट बन्धनों को (चाहे वे वैयक्तिक या पारिवारिक या सामाजिक किसी भी प्रकार के हों) छोड़कर एक नये सामान्य का एक नया जीवन वरण करता है, क्योंकि सामान्य ही शूद्र की तरह विराट् पुरुष का आधार है, उसी पर विराट् पुरुष खड़ा होता है। मनुष्य के विकास की इस कल्पना में मनुष्य सृष्टि से न तो छोटा होता है, न तो उसका उपभोक्ता होता है; न तो प्रकृति का विजेता होता है, न प्रकृति से विजित होता है; न वह नियामक होता है, न वह किसी नियति का शिकार होता है। ग्रीक

प—२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देवताओं की परिकल्पना विल्कुल भिन्न है, ग्रीक देवता मनुष्य के ऊपर के प्राणी थे, मनुष्य के सहभागी नहीं थे। उनके साथ मनुष्य का संबंध एक निश्चित और ध्रुव संबंध था, एक कानूनी रिश्ता था, देवता की पूजा या देवता को वलि एक नागरिक के कर्तव्य के रूप में निश्चित थी। ग्रीक देव-संस्था में सर्वोच्च देवता 'जेउस' नैतिक विधान के आचार्य थे और सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के संरक्षक थे। इसीलिए मनुष्य उनसे दवा रहता था, अपनी अस्मिता का प्रमाण देने के लिए देवताओं से विद्रोह करता था तथा देवताओं से पराजित होकर मनुष्य की लाचारी की दुर्दान्त नियति का भागी होता था। वैदिक चिन्तन में देवता मनुष्य से अलग नहीं हैं। वे मनुष्य के प्राण से उद्भूत हैं, मन से उद्भूत हैं और मन से युक्त हैं। वस्तुत: देवता के लिए यज्ञ का विधान मनुष्य के भीतर की संभावना के लिए यज्ञ-विधान है, इसीलिए यज्ञ में एक मूलभूत सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया गया है कि अपने को देवता बनाकर ही यज्ञ किया जा सकता है (देवो भूत्वा देवं यजेत)। दूसरे शब्दों में एक देवत्व है जो मनुष्य में प्रसुप्त है, और उसे जगाकर विश्व में व्याप्त संवादी देवत्व को आहूत करने के लिए और उसे अपना प्रिय से प्रिय पदार्थ अर्पित करने के लिए, अपनी आत्मीयता अर्पित करने के लिए, मनुष्य अधिकारी वन सकता है। इस प्रकार देवता मनुष्य पर उतना ही अवलम्बित है, जितना मनुष्य देवता पर। यज्ञ, मनुष्य और देवता के सम्वन्धों को जीने के लिए, एक साधन है और मंत्र, देवता के आह्वान का ही नहीं वल्कि मनुष्य और देवता के सम्बन्ध के नवसर्जन का माध्यम है। इसी-लिए वाक् को सृष्टि की प्रवर्तिका और धारिका माना गया है तथा यज्ञ को पुनर्जीवन, पुनर्जन्म या अवसर्जन माना गया है।

मनुष्य के अन्त:स्थल की गुहा ही को देवता का अधिष्ठान माना गया है, इस अधिष्ठित देवत्व को जगाने के लिए दिव्य वाक् या आर्ष वाक् या अपौरु-षेय वाक् या अन्त:स्फूर्त वाक् का व्यापार होता है, जो एक ओर तो व्यक्ति का विरेचन करता है तो दूसरी ओर आहूत देवता के साथ पुन: तादात्म्य का संयोजन भी। दूसरे शब्दों में, यह दोहरा व्यापार ही व्यष्टि और समष्टि की एकाकारता की निष्पत्ति है।

इसीलिए वैदिक देवता मानवाकार नहीं हैं। वे किसी भी निश्चित आकार वाले नहीं हैं, वे मंत्र में निहित शक्ति के द्वारा परिमित और निर्मित होते हैं, वे निरन्तर 'पुराणी युवति' उषा के साथ नया-नया रूप धारण करके 'नवजायमान' होते हैं।

इस प्रकार सृष्टि के शिखर पर न तो हमेशा मानव है और न ही देवता। श्रीचक्र की तरह कभी शीर्ष बिन्दु ऊपर होता है, तो कभी आधार-रेखा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऊपर, इन दोनों स्थितियों वाले दो त्रिकोणों के योग से सृष्टि-चक्र पूरा होता है। इसलिए वैदिक देववाद में उग्र और सौम्य, ज्योति और तमस्, उषस् और रात्रि, मित्र और वरुण (रात्रि सूर्य और दिवासूर्य), सौपर्णी और काद्र-वेयी (जो बाद में गरुड़ और सर्प के पौराणिक मिथक में परिवर्तित हुआ), अग्नि और सोम जैसे परस्परपूरक द्वन्द्वों के साथ मनुष्य को जोड़ा गया। मानव-अभ्युत्थान के लिए प्रकट-अप्रकट, स्थूल और सूक्ष्म, चेतन और जड़, दोनों प्रकार की शक्तियों के उचित अनुपात में उपयोग की आवश्यकता वैदिक वाङ्मय में प्रतिपादित की गई। रात्रि-सूक्त और अरण्यानी सूक्त में मनुष्य के उन अन्तःसंघर्षों का प्रमाण है, जो मनुष्य के बाहर और भीतर दोनों प्रकार के गूढ़ रहस्यों को जानने की चुनौतियों से जूझने के लिए अनादि काल से छिड़ते रहे हैं। इन सूक्तों में भय नहीं है, यहां अरण्यानी को अन्धकार की शीतल ज्योति के रूप में देखा गया है, तिमिर की मधुर गन्ध से युक्त यहां रात्रि को भी, ज्योति के एक ऐसे रूपान्तर के रूप में आहूत किया गया है, जो रिक्त स्थानों को भरे, ऊंचाइयों और गहराइयों को आप्लावित करे, ताकि मनुष्य भी भीतर-बाहर भर सके, अधूरा या खाली न रहे।

नारदीय सूक्त में सत् और असत् की संभावनाओं का अतिक्रमण करके एक परम सत् को आवाहित करने का प्रयत्न है। एक प्रकार से सत् और असत् दोनों से युक्त हो करके मनुष्य एक अतिक्रामी चैतन्य स्थिति में अपने को अधिष्ठित करे, यही सृष्टि का मूल उद्देश्य है। इस स्थिति में ही काम की सार्थकता है, जो सत् और असत् को जोड़ता है और, इसी स्थिति में विद्या की सार्थकता है, जो स्वयं एक सीमा के बाद अपना निजत्व अर्पित करके वेत्ता बन जाती है।

यही परम विद्या—सिद्ध कवि शान्तिपा के शब्दों में—सत्-असत् से परे एक ऐसी वस्तु बन जाती है जो जल में पड़े हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की तरह न चन्द्रमा का भाव है और न चन्द्रमा का अभाव। दूसरे सिद्ध कवि कम्बलाम्बरपाद ने इसीको करुणा की सन्तरण-नौका के रूप में देखा है, जिसमें भाव और अभाव दोनों के विरेचन का स्वर्णिम शून्य इतना भर जाता है कि रुपहले रूप के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

सिद्ध कवियों के इन उदाहरणों को देने का एकमात्र प्रयोजन यह था कि भारतीय चिन्तन की निरन्तरता का आभास मिल सके; यह दिखलाया जा सके कि वैदिक और अवैदिक दोनों प्रकार के स्रोत मानव-जीवन की चरम चरितार्थता के सम्बन्ध में एक-सी अतिक्रमणवादी दृष्टि रखते हैं। ये दोनों प्रकार के स्रोत मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन को दो अलग प्रकोष्ठों में न देखकर दोनों के ऊपर उठ सकने वाली करुणा, समरसता, विश्वभावना-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शीलता के साधन के रूप में देखते हैं।

यहां एक महत्त्वपूर्ण अन्तर पश्चिमी और भारतीय चिन्तन में परिलक्षित होता है। जहां पश्चिमी चिन्तन में मनुष्य पार्थिव सृष्टि के फल का भोक्ता है और समूची सृष्टि उसके लिए उपभोग्य है, वह सृष्टि के शिखर पर स्थित है, वहां भारतीय चिन्तन में मनुष्य साध्य न होकर साधन है—चेतन-अर्द्ध-चेतन-अचेतन सृष्टि के बीच सामंजस्य और साझेदारी की भावना स्थापित करने के लिए। वह सृष्टि की प्रक्रिया के अनन्त केन्द्रों में स्वयं संचरणशील है, किसी एक शिखर या किसी एक विन्दु पर यह ठहरा हुआ नहीं है। वह सृष्टि के दूसरे प्राणियों या अर्द्ध प्राणियों से इसलिए नहीं विशिष्ट है कि वह उनके ऊपर शासन के लिए पैदा हुआ है, वल्कि इसलिए कि वह उनकी सार्थकता को भी अपने संपर्क से, अपनी करुणा से, अपनी भावना और अपनेपन से पूर्ण सार्थकता दे सकता है—जो सार्थकता वे किसी दूसरे प्रकार से प्राप्त नहीं कर सकते थे।

विश्व स्वयं भारतीय चिन्तन में एककेन्द्रिक न होकर वहुकेन्द्रिक है। ऐतरेय ब्राह्मण में पिंड और ब्रह्मांड की संवादिता की बात प्रतिरूपता के रूप में कही गई है, वही बात तांत्रिक दर्शन में, दूसरे शब्दों में, पिंड को ब्रह्मांड का अधिष्ठान वनाकर परिभाषित हुई है। मनुष्य इस प्रकार की विश्वसृष्टि से युक्त होने पर एक साथ दो धरातलों पर क्रियाशील होने के लिए विवश हो जाता है। वह एक दिक्काल में स्थित ऐतिहासिक और सामाजिक मनुष्य है, और साथ ही दिक्काल का अतिक्रमण करके अपनी सन्तान में वर्तमान, अपनी परम्परा में वर्तमान है। आत्म-विस्तार की आकांक्षा के रूप में वह आसपास के केवल मानव-जगत् में ही नहीं, वल्कि प्राणि-जगत्—वल्कि उससे भी आगे जाकर स्थावर जगत् में एकात्म होकर (केवल सामान्य होकर नहीं) प्रसृत है। एक प्रकार से मानव-अस्तित्व एक ऐसा भाव है, जो कभी भी चुकता नहीं है, कभी भी विश्राम नहीं लेता है। विराट् वनने की प्रक्रिया में वह सीमित परि-प्रेक्ष्यों से मुक्त होता रहता है और अपनी इच्छा से पुनः उस प्रकार की आकांक्षा को तीव्र करने के लिए सीमित दायरों में बंधता रहता है। यह आकस्मिक नहीं है कि भारतीय कला में परिप्रेक्ष्य (पर्सपेक्टिव) का अभाव इतना संलक्ष्य लगता है। वस्तुतः परिप्रेक्ष्य का विकास ही एक ऐसी स्थिति में होता है जब मनुष्य परमेश्वर या परम सत्ता के विरोध या उसके आमने-सामने आभिमुख्य में अपने को खड़ा करता है—और जब मनुष्य अपने में मनुष्य और ईश्वर दोनों हो तो इस आमने-सामने की स्थिति की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती है।

भारतीय दृष्टि पिंड और ब्रह्मांड के बीच, विराट् पुरुष और व्यष्टि पुरुष के बीच एक अन्तर्निहित संवादिता की स्थिति मानकर चलती है, इसीलिए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारतीय साहित्य में पश्चिमी साहित्य के ठीक विपरीत दृष्टि परिलक्षित होती है। पश्चिमी साहित्य में मनुष्य केवल एक धरातल पर दिक् और काल में बंधा हुआ है। दूसरे शब्दों में, भूगोल और इतिहास में बंधा हुआ, एक स्वकल्पित जातीय दाय और ऋण से बंधा हुआ विश्व के साथ सम्वन्ध स्थापित करता है और बंधा हुआ ही वह विश्वसत्ता से भी सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश करता है। पर भारतीय साहित्य में, विशेष रूप से प्राचीन भारतीय साहित्य में, मनुष्य एक साथ दो-दो धरातलों परअपने को क्रियाशील बनाता हुआ चलता है। एक धरातल पर वह अपनी अवस्था, अपने सामाजिक परिवेश और अपने परिवार से जुड़ा हुआ है, तो दूसरे धरातल पर वह अपने अतीत और अपने भविष्यत् के रूप में उन पीढ़ियों से जुड़ा हुआ है जिनके साथ उसकी सपिंडता या पिंड की साझेदारी है। अपने समाज एवं देश कीसीमाओं काअतिक्रमण करकेसर्वभूत के साथ तादात्म्य भावसे जुड़ा हुआ, इस प्रकार वह अस्ति के रूप में सीमावद्ध है; पर भाव के रूप में—सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते (जिसके द्वारा समस्त प्राणियों में एक अव्यय भाव, एक न चुकने वाला भाव स्थापित हो, वही वास्तविक बोध है)—वह सीमाओं से मुक्त होकर शुद्ध रूप से एक वहुत वड़ी रस-सिद्धि में विभाव बन जाता है। इस प्रकार यह विभावन ही परिप्रेक्ष्य या ठीक-ठीक कहें तो परिप्रेक्ष्य से मुक्ति है। भारतीय दृष्टि इतिहास में मनुष्य को आवद्ध नहीं करती, पर इतिहास का निषेध भी नहीं करती। मानव-अस्तित्व का ऐतिहासिक पक्ष पश्चिमी चिन्तन में जिस प्रकार की सार्थकता से संचालित माना जाता है, उस प्रकार की सार्थकता को भारतीय चिन्तन बहुत छोटी सार्थकता मानता है। पश्चिमी साहित्य इस सार्थकता की तलाश में एक ऐसे हताशा के बिन्दु पर पहुंच चुका है कि 'होज़े द ओर्तेखा य गासेत' के शब्दों में— "आज आदमी यह अनुभव कर रहा है कि उसके नीचे की ज़मीन खिसक गई है, वह एक दहशत का शिकार हो गया है; ऐसा लगता है वह एक ऐसे जहाज़ पर खड़ा है जो एक निरालम्ब शून्य में डूवने-डूवने को है।" यह हताशा एक तकनीकीकरण केअतिरेक से तो आयी ही है पर उससेअधिक मनुष्य में मनुष्य के नियंत्रक होने के अतिरिक्त विश्वास से। इसीलिए समकालीन मानवीय संकट के संदर्भ में प्राचीन भारतीय चिन्तन की अखण्ड मानव-दृष्टि बहुत प्रासंगिक हो जाती है, जो मनुष्य को कहीं बांधती है तो कहीं मुक्त भी करती है क्योंकि वह प्राकृतिक शक्तियों को प्रतिस्पर्धी के रूप में, आतंक या वध्य के रूप में नहीं देखती है, बिछुड़ी हुई सहचरी के रूप में देखती है। वह विज्ञान, विशेषरूप से तकनीकी विज्ञान की प्रगति को रूंधे विना और मनुष्य को नये क्षितिजों की खोज सेअलग खींचे बिना एक विश्वमानवशील मानववाद की कल्पना दे सकती है, जो विज्ञान में संसक्त होते हुए विज्ञान के अपराध-बोध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

या गौरव-वोध से मनुष्य को मुक्त करके न केवल मनुष्य-विशेष के प्रति या प्रत्येक मनुष्य के प्रति, वल्कि समस्त जड़-चेतन के परिवेश के प्रति उसे अर्पित वना सकती है।

भारतीय साहित्य में इतिहास-पुरुष का स्थान महत्त्व नहीं रखता है, महत्त्व रखता है भाव-पुरुष का स्थान। वाल्मीकि या व्यास ने जव राम-कृष्ण की मूर्ति खड़ी की तो उनके लिए वे अतीत में अघटित वास्तविकता न होकर साम्प्रतिक और सजीव वास्तविकता थे। कहा जाता है कि राम के जन्म के पहले रामायण की रचना की गयी थी, इस कथन में ऐतिहासिक दृष्टि से एक वेतुकापन दीखता है, पर काव्य के प्रयोजन की दृष्टि से यह बिलकुल सही बात है कि ऐतिहासिक राम की ऐतिहासिक सत्ता भी एक पूर्वभावित भाव की परिणति है और वह भाव राम की ऐतिहासिक सत्ता तक ही चुकता नहीं, वह नित्य राम-भावों की शृंखला को जन्म देता रहता है और साथ ही साथ स्वयं नया होता रहता है। वाल्मीकि ने राम को मानव-उदात्तीकरण के प्रकर्ष के रूप में देखा—ऐसे प्रकर्ष के रूप में कि यदि वह युद्ध में खड़े हो जाएं तो देवता भी उनसे भयभीत हो जाएं, क्योंकि देवत्व एक सिद्धावस्था है, एक अमूर्त पर निश्चित ऊर्जा की स्थापना है जवकि मानवत्व एक साध्यावस्था है—देवत्व की अमूर्त ऊर्जा का मूर्तीकरण कहीं 'अधिक' वास्तविक विनियोग है। इसलिए मानवत्व में चैतन्य देवत्व की अपेक्षा अधिक सार्थक रूप में अभिव्यक्त होता है।

व्यास ने कृष्ण को विशाल धर्मवृक्ष के रूप में देखा है, जो रस ग्रहण करके प्रत्येक फुनगी और प्रत्येक पल्लव तक उस रस को पहुंचा देते हैं। एक प्रकार से वह विश्व-प्रकृति और मनुष्य की ऊर्जा के संवहन के परावर्तक केन्द्र हैं, उनमें इसीलिए इतनी निमर्मता और इतनी आत्मीयता है। जिस अर्जुन के सारथि बनकर युद्ध में वह उन्हें विजेता वनाते हैं उसी अर्जुन को मामूली लुटेरों से लूटे जाने के लिए असहाय छोड़ देते हैं। कब रस पहुंचना चाहिए, कब नहीं; कहां रस पहुंचना चाहिए, कहां नहीं—इसका वह ठीक-ठीक ध्यान रखते हैं; इसीलिए जिस धर्मवृक्ष के वे मूल हैं वह कभी उखड़ता नहीं, उसके पत्ते झर जायें, फूल झर जायें, फल झर जायें, डालियां टूटकर अलग हो जायें, सूख जायें, पर वृक्ष कभी उखड़ता नहीं—और वह धर्मवृक्ष ही वासुदेव के रूप में भारतीय लोक-कल्पना की दृष्टि में प्रतिष्ठित बना रहता है। भारतीय आध्यात्मिक कल्पना में भी यही धर्मवृक्ष 'ऊर्ध्वमूल', 'अधःशाखक', 'अव्यय अश्वत्थ' कहा गया है। वेद के मंत्र इसके पर्ण कहे गये हैं, जो दिक्काल के परिवर्तन के साथ नित्य नये ऋतुचक्र में नयी अर्थच्छटा धारण करते रहते हैं, वे झरकर भी, गलकर भी नये अंकुर की सृष्टि में प्रेरक बनते रहते हैं। इस प्रकार कृष्ण की कल्पना एक ऐतिहासिक पुरुष से कहीं अधिक व्यापक कल्पना है और उसमें इतनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्षमता है कि मनुष्य के विविध निजी सम्बन्धों को अपनी ओर अभिमुख करके अधिक गहरा अर्थ दे सकती हैं। संस्कृत-साहित्य के बारे में पश्चिमी आलोचकों की प्रायः इसीलिए भ्रांत धारणा रही है, क्योंकि यह साहित्य साधारण मनुष्य, या आज की शब्दावली में क्षुद्र मानव, की प्रतिष्ठापना न होकर इसमें नायक या प्रतिनायक हमेशा विशेष शक्ति और सौन्दर्यतम संतुलन से युक्त रहता है। एक प्रकार से यह अभिजात और दरबारी साहित्य है, इसमें साधारण मनुष्य की आकांक्षा को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न बहुत कम किया गया है। यह धारणा कितनी निस्सार है, यह इसीसे स्पष्ट है कि संस्कृत-साहित्य में उदात्त से उदात्त नायक के सन्ताप और उसकी दुर्बलता, उसके प्रमाद और उसके परिताप, उसके भोग और उसके तप, उसके मोह और उसके ज्ञान का ठीक-ठीक सन्तुलन रखने का प्रयत्न किया गया है। वाल्मीकि के राम हों या सीता हों या लक्ष्मण हों, मानवीय दुर्बलताओं की प्रखरतम धार में होकर गुज़रते हैं, और ईर्ष्या, द्वेष, आक्रोश किसीसे भी अछूते नहीं रहते। पर इनके भीतर गुज़रकर वे अपने सही व्यक्तित्व का निखार पाते हैं।

यह केवल रूढ़िवश नहीं है कि भारतीय साहित्य में तपोवन का अभिप्राय बराबर दुहराया गया है, केवल आश्वासन के आलम्बन के रूप में नहीं, निगूढ़ दाहात्मक तेज के अधिष्ठान के रूप में भी तपोवन की स्मृति बार-बार जगाई गई है, तपोवन एक प्रकार से भारतीय साहित्य में चित्त के प्रदीप्त संस्कार का प्रतीक है, जिस संस्कार में तप भी है, शान्ति भी है, अटूट विश्वास-भरी आत्मीयता भी है और जगत् से निरपेक्षता भी है। अभिज्ञान शाकुन्तल में कण्व का शिष्य दुष्यन्त के राज-दरबार में पहुंचता है तो उसकी पहली प्रतिक्रिया यह होती है कि "मैं किस भयावनी जगह में आ पहुंचा हूं। जैसे कोई आदमी नहाकर आये किसी आदमी के शरीर में तेल-मालिश होते देखे, वैसे ही मुझे इस राज्य-सभा के सजे-बजे लोगों को देखकर घिन-सी होती है, मुझे ऐसा लगता है कि चारों ओर आग लगी हुई है।" क्या इस प्रतिक्रिया को दरबारी कविता की प्रतिक्रिया कहा जा सकता है? कालिदास के काव्य की आत्मा दुष्यन्त के 'न खलु परिभोक्तुं नैव शक्नोमि हातुम्' की संशयपूर्ण मनःस्थिति में ही प्रतिध्वनित नहीं होती, वह शकुन्तला के दर्प-स्फीत आक्रोश और दुष्यन्त के परिताप में भी उतने ही सशक्त रूप में प्रतिध्वनित होती है। किसी न किसी रूप में तपोवन या तप कालिदास की प्रत्येक कृति के प्रारंभ में आता है। और बिना तप के—चाहे वह तप साधना के रूप में, या चाहे यातना के रूप में हो—काव्य के अर्थ की प्राप्ति प्रतिबन्धित रहती है। कालिदास ही नहीं, संस्कृत के दूसरे कवि भी—भारवि, माघ, बाण और भवभूति जैसे उत्तरवर्ती कवि—मानव-अस्तित्व के साथ नागर जीवन की अपेक्षा अरण्य-जीवन के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तादात्म्य पर विशेष वल देते हैं। यदि हम तपोवन की इस साभिप्रायता की गहराई में जायें तो हमें तीन बातें स्पष्ट दीखेंगी—पहली तो यह कि तपोवन एक ऐसी जगह है जहां सामान्य कुटुम्ब-भाव का उन्नयन सर्वभूत कुटुम्ब-भाव के रूप में हो गया है, इसलिए जहां निसर्ग और मनुष्य में एक संवाद स्थापित हो गया है, वहां नीवार (जंगली धान—तीना) के मांड़ और जंगली वेर के साग की गन्ध आप्यायित करती है, वहां निश्छल व्यवहार, निर्व्याज सौन्दर्य और अखंड स्वातंत्र्य-वोध के लिए पौर जीवन की सुविधाएं न्यौछावर की जाती हैं, इसीलिए वहां मनुष्य अपने 'स्व' की पहचान करने में समर्थ होता है; दूसरी यह कि तपोवन की सीमा के वाहर ही राजा का रथ रुक जाता है, राजा के शासन का क्षेत्र वहां तक सीमित है, राजा को भी अपना राजत्व भूलकर तपोवन में प्रवेश करना होता है। तपोवन का यह अधिकार भय के वल पर नहीं वल्कि भारतीय राज्य-व्यवस्था के पीछे एक स्वतंत्र और सुनिश्चित नीति-निर्धारण, राज्यातीत सत्ता के केन्द्र के रूप में भारतीय समाज और परम्परा के द्वारा दिया गया अधिकार है (जिसे 'पुराण प्रकृति' कहा गया है, उसका व्यवस्थापन इसी तपोवन में हो रहा है); तीसरी वात यह कि तपोवन में एक ओर जहां ज्ञान का पावक सदा प्रदीप्त रहता है, वहीं दूसरी ओर करुणा के सोम का भी निरन्तर सेवन होता रहता है और ज्ञान तथा करुणा के संयोग से मनुष्य के चित्त का भावात्मक संस्कार और मनुष्य की बुद्धि का सर्जनात्मक संस्कार होता रहता है। इस प्रकार तपोवन भौतिक दृष्टि से अत्यन्त साधारण आदमी और अत्यन्त सम्पन्न आदमी को एक धरातल पर लाने वाला स्थान है। वह हर प्रकार से सामंजस्य और सामरस्य की प्रेरणा देने वाला स्थान है। वह पुर और जनपद को अपने नैतिक वाम से नियंत्रित करनेवाला स्थान है। इस दृष्टि से विचार करने पर संस्कृत-साहित्य के वारे में पश्चिम के विचारकों की धारणा अपने-आप खंडित हो जाती है।

इससे भी महत्त्वपूर्ण वात यह है कि भारतीय पौराणिक कल्पना में भारत के अधिष्ठाता देवता के रूप में नर-नारायण की प्रतिष्ठा की गई है और यह कल्पना की गई है कि नर और नारायण दोनों वदरिकाश्रम में लोक-कल्याण के लिए निरन्तर तप करते रहते हैं। नारायण अपनी पूर्णता को विरेचित करके व्यष्टि-चित्त की आकुलता का वरण करते हैं और नर अपनी व्यष्टि का विरेचन करके सर्वभूत या सर्वात्मा से आपूरित होने का प्रयत्न करते हैं। तपोवन मनुष्य के उत्तरार्द्ध की काम्य जगह है, जहां वह अनिकेतन होकर आता है और विश्व-नागरिक वन जाता है। वह कुटुम्ब के ऋण से मुक्त होकर आता है और मनुष्य-ऋण या भूत-ऋण को अदा करने के लिए विक जाता है। वह व्यक्त से अव्यक्त की ओर, अग्नि के आधान से विन्दु के ध्यान की ओर मुड़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाता है और मुड़कर भारतीय कल्पना में सर्जनात्मक प्रतिभा की अधिदेवता वाग्देवी के साथ एकाकार हो जाता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य मनुष्य के इस क्रमिक आरोह और अवरोह के साथ ही मनुष्य के परादेवता के अवरोह से अन्योन्य प्रतिदान को बराबर प्रतिबिम्बित करता मिलेगा। उसमें सामाजिक ध्रुवीकरण के स्थान पर एक-दो धरातलों पर क्रमश: सामान्य और विशेष जीवन-वृत्ति का प्रक्षेप करके विरोध या संघर्ष का परिहार किया गया है। यह कहना कि प्राचीन भारतीय साहित्य में करुणा जगाने की क्षमता नहीं है इसलिए वह द्वितीय श्रेणी का साहित्य है, या प्राचीन भारतीय साहित्य में संघर्ष का चित्रण नहीं है इसलिए वह निष्प्राण साहित्य है, विवेचन के छिछलेपन का प्रमाण देना होगा, क्योंकि प्रत्येक समर्थ कवि ने अपने-अपने ढंग से कारुण्य-बोध जगाया है। वाल्मीकि ने राम के निर्वासन और सीता के निर्यातन की कहानी के द्वारा, व्यास ने महाभारत के युद्ध के युधिष्ठिर के विलाप और विजेताओं की करुण नियति के आख्यान द्वारा, कालिदास ने रघुवंश के घोर अध:पतन के प्रतीक के रूप में अग्निवर्ण की विलास-कथा में ग्रन्थ की परिसमाप्ति के द्वारा, भवभूति ने सीता-मिलन के अनन्तर भी राम की अप्रतीति की घोषणा के द्वारा, सभी ने कारुण्य-बोध को बड़ी सूक्ष्मता से जगाया है। भारतीय साहित्य में सामाजिक संघर्ष व्यष्टि और समष्टि के संघात से कुछ छोटा संघर्ष पड़ता है और क्योंकि कुछ छोटे-से अपवादों को छोड़कर जातीय चेतना साहित्य की प्रेरक शक्ति के रूप में आराध्य नहीं है। राष्ट्रीय संघर्ष का स्वर भी बहुत क्षीण है। संस्कृत साहित्य की यह दुर्बलता १९वीं शती में स्वीकार की जाती तो ठीक था, पर २०वीं के उत्तरार्द्ध में विश्व-संस्कृति के अभ्युत्थान के स्वप्न के साकार होने के सन्दर्भ में यह आलोचना बहुत अनुपयुक्त प्रतीत होती है। ठीक इसके विपरीत, यह कहना अधिक संगत होगा कि आज के आधुनिक संकट से उबरने के लिए यदि कोई मानववादी कल्पना सार्थक हो सकती है तो वह भारतीय साहित्य की परिकल्पना ही, क्योंकि यही मनुष्य मात्र को (उससे छोटे घर की मिल्कियत छीनकर) विश्वभर के विशाल घर का नागरिक बना सकती है। यह परिकल्पना ही मनुष्य को प्रेरित करेगी कि वह प्रपंच से असंपृक्त रहकर अपनी भाव-सत्ता को प्राप्त करने के लिए मुक्त होने की ज़मीन तलाशे, यह तलाश कोरे कागदी ज्ञान से संभव नहीं, यह तलाश भावरूप ज्ञान के निरन्तर अभ्यास से संभव है, ऐसे अभ्यास से जो जीवन का पर्याय बन जाये।

आवश्यकता है प्राचीन भारतीय साहित्य को आधुनिक दृष्टि से पढ़ा जाये, उसे तावीज न बनाया जाए, उसमें डूबा जाए और उसकी समग्रता को पाने की कोशिश की जाए। वह साहित्य भी मनुष्य को 'परतर' मानता है, पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'परतर' साध्य रूप में नहीं, 'परतर' साधन के रूप में, मनुष्य का अस्तित्व समग्र अस्तित्व को आत्मसात् करने की चुनौती स्वीकार करके ही 'परतर' अस्तित्व है, मानव-देह 'साधन-धाम' बनकर 'विबुधदुर्लभ' देह है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५

हिंदू धर्म की नयी पहचान

हिन्दू-धर्म यह नाम ही हमारा अपना दिया हुआ नहीं है। मध्ययुग के सन्त कवियों में से अधिकांश ने 'हिन्दू' विशेषण लगाने की आवश्यकता नहीं समझी। वस्तुतः इसे केवल धर्म कहना ही उचित, इस धर्म के विशेषीकृत रूप को कोई शैव कह ले, वैष्णव कह ले या निर्गुणपंथी।

प्राचीन काल में भी धर्म के दो आयाम थे : पहला सामान्य अर्थात् निर्विशेष धर्म, दिक्कालातीत धर्म, वर्णाश्रमातीत धर्म या दूसरे शब्दों में सनातन अनवच्छिन्न धर्म ! वह धर्म जो प्रजाओं को धारण करता है—धर्मो धारयते प्रजा:। वह धर्म, जो 'ऋत' को प्रवर्तित करता और 'सत्य' से विचलित नहीं होता। वह धर्म, जो मानव मात्र का है, किसी एक जाति, किसी एक भौगोलिक सीमा या ऐतिहासिक दायरे से बंधे लोक का नहीं। वह प्राणिमात्र से, चर-अचर जगत् से मनुष्य को जोड़नेवाला धर्म है। दूसरा, देश-काल से परिसीमित विशेष धर्म है। इसीका भारतीय सामाजिक रूप वर्णाश्रम है। इसीका व्यक्तिगत स्तर पर रूपांतर विभिन्न उपासनाओं में होता है। इसीका नैतिक स्तर पर एक रूप पाप-पुण्य-विवेक भी है। इसीका रागात्मक स्तर पर रूपांतर काव्य एवं कलाओं में होता है। इसीका क्षेत्रीय प्रतिभाओं के प्रस्फुटन के स्तर पर लोक-कलाओं एवं लौकिक अनुष्ठानों के रूप में रूपांतर होता है। किन्तु इन सभी रूपांतरों का मूल स्रोत है सामान्य धर्म। अपने धर्म का आचरण सबके धर्मों से जुड़ने की एक प्रक्रिया है, अपने-आपमें चरम गन्तव्य नहीं। जिन लोगों ने दूसरे प्रकार का धर्म पहले प्रकार के धर्म से अलग करके देखा, उन्हें इसकी आवश्यकता प्रतीत हुई कि इस अनेकरूपी आचरण को कोई एक संज्ञा दी जाए, तो उन्होंने 'हिन्दू-धर्म' के नाम से इस समुदाय को अभिहित किया।

कालांतर में जब यह समुदाय सांस्कृतिक रूप से आक्रांत हुआ, तब वह अपनी अस्मिता कायम रखने के लिए दूसरों की दी हुई अपनी इस संज्ञा को कवच के रूप में धारण करने लगा और अपनी व्यापक मूल दृष्टि से कटकर एकजातीय बोध के साथ अपना तादात्म्य जोड़ने लगा। यह प्रक्रिया मध्ययुग में उतना ज़ोर नहीं पकड़ सकी, वावजूद इसके कि तलवार के बल पर धर्म-परिवर्तन कराए गए और विशेष प्रकार का परधर्म-मतावलम्बी मानकर 'जज़िया' लगाया गया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका मुख्य कारण यह था कि भक्ति-आंदोलन की मूल दृष्टि बड़ी व्यापक थी। भगवान् का होने का अर्थ ही था, समस्त प्राणियों का होना, क्योंकि भगवान के अस्तित्व का अनुभव अपने में तब तक अधूरा है, जब तक आस-पास उस अनुभव से गमक न उठे। जिस अस्तित्व से पुण्य न गमके, वह अस्तित्व ही कैसा ? इसीलिए भक्ति की सघन-शीतल छाया में छंहाने मुसलमान आए—इस्लाम छोड़कर नहीं, इस्लाम ओढ़े हुए आए। यद्यपि वे इस्लाम में ही दफनाए गए, तथापि जीते रहे भक्तिमय जीवन; कुर्बान होते रहे जड़ प्रतिमा पर नहीं, पर नित्य घटित हो रही लीला के माधुर्य पर। अब्दुर्रहीम खानखाना ने नन्द-नन्दन को पुकारा—'छिपना चाहते हो तो इस मेरे अन्तराल के गहन अन्धकार में आकर छिप जाओ, तुम्हें कोई भी ढूंढ़ नहीं पाएगा'—

मानसे मम घनान्धतामसे नन्दनन्दन कथं न लीयसे ?

भक्ति ने घने से घने अन्धकार के साथ भगवान् का तादात्म्य स्थापित किया, जिससे भगवान से अनालोकित कोई भी कोना-अंतरा न रह जाए।

भक्ति की पूरी भूमिका विधिरूप थी। निषेध-रूप में उसे जिन किन्हीं लोगों ने देखा, उन्होंने सांप्रदायिक संकीर्णता को ही जन्म दिया। उससे मठ तो बने, मठों की सम्पत्ति तो बनी, पर सर्वभूतों में एक अव्ययभाव देखनेवाली, समस्त ठहरी हुई स्थितियों में एक होने की प्रक्रिया आरम्भ करनेवाली, समस्त अलग-अलग इकाइयों में एक परस्परसापेक्ष संरचना देखनेवाली समग्र-दृष्टि घूमिल होती रही। तुलसीदास ने जब कहा—

सो सब धरम करम जरि जाऊ।
जेहि न रामपद पंकज भाऊ।।

या कृष्ण-भक्त ने कहा—

बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ
जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो।

तो उसका तात्पर्य यह नहीं था, राम-भक्ति से विलग कोई धर्म नहीं है या कृष्ण रूप की माधुरी से विलग कोई माधुरी नहीं है। उसका अर्थ यही है कि रामभक्ति या कृष्ण रूप-माधुरी की वास्तविक प्राप्ति ही तब माननी चाहिए, जब समस्त धर्मों, समस्त सौन्दर्यों, समस्त सुखों और समस्त दुःखों का तादात्म्य भगवद्भक्ति एवं भगवत्-चिन्तन में हो जाए। उसके पहले भक्ति छूछी रहती है, क्योंकि तब तक ऐसा लगता है कि कुछ ऐसा अंश बना हुआ है, जो भगवद्भावना से अभी आपूरित नहीं हुआ है। जहां समाज-सेवा मोक्ष के साधन में स्वीकृत थी, वहां वह भगवत्सेवा के रूप में परिणत होकर मोक्ष से अधिक स्पृहणीय साध्य बन गई।

भक्ति का आंदोलन अपने भीतरी स्तर पर समाज का निषेध करनेवाला

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आंदोलन नहीं था। वह समाज को बदलने वाला भी आंदोलन नहीं था। वह समाज को सराबोर करनेवाला अनन्त पारावार का प्रवाह था। उसमें जो जितना डूबा, वह उतना तिरा। इसीलिए धर्मान्तर के प्रयत्न संस्कृति से भीतरी विवर्तन के स्तर पर अपने-आप विफल हुए। सारा धर्मान्तरण केवल वेशभूषा और खान-पान बदलने तक ही कृतकार्य हो सका। वह मन नहीं बदल सका, उल्टे उसने बहुत बड़े प्रतिरोध की शक्ति निर्मित की और इस शक्ति ने मुगल-साम्राज्य की नींव जड़ से हिला दी। यही नहीं, इस्लाम का भी एक भावांतर करने में यह आंदोलन सफल हुआ। इसने इस्लामी सन्तों को ऊंची प्रतिष्ठा दिलाई।

हिन्दू-धर्म की संकीर्णता की शुरुआत अंग्रेज़ों के आने के बाद हुई। अंग्रेज़ों ने ऊपरी तौर पर धार्मिक सहिष्णुता दिखलाई, भीतर-भीतर मसीही धर्म-प्रचार को सरकारी संरक्षण दिया। ऊपर से उन्होंने प्राचीन साहित्य और धर्म के अध्ययन के लिए अपने आदमी लगाए। यह अलग बात है कि उनमें काकतालीय न्याय से कुछ सच्चे भी निकले। फिर भी भीतर-भीतर हिन्दू-धर्म को एकदम कठघरे में खड़ा कर दिया : "हिन्दू-धर्म निनतिक है, हिन्दू-धर्म ढोंग-प्रधान है, हिन्दू-धर्म अंधविश्वासी है, हिन्दू-धर्म बहुदेववादी है, प्रकृतिदेववादी है।" यही नहीं, उसने अपनी शिक्षा में रंगकर क्षमाप्रार्थी हिन्दू-नेता पैदा किए, जो अपनी सफाई के लिए विदेशी युक्तियों की तलाश में लगे। उन्होंने हिन्दू-धर्म की सम्पूर्णता खण्ड-खण्ड कर उसके एक खण्ड के ही प्रामाण्य पर बल देना शुरू किया। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू ने 'हिन्दू' नाम तो बड़े शौक से धारण किया—बिना जाने-समझे कि यह नाम हिन्दू की इयत्ता स्थापित करने के लिए उतना नहीं, जितना उसका मुसलमान और ईसाई से अकारण अलगाव करने के लिए कारगर है, किन्तु उसने जब अपने को मसीही और मुसलमान के समकक्ष मतावलम्बी के रूप में खड़ा किया, तब उसे लगा कि अपने में उसे काट-छांट करनी होगी, कुछ नयी प्रकार की निष्ठाओं पर टेक लगानी होगी और अपने ही हिस्से को अपने से जुदा करना होगा।

इस नव-साक्षर हिन्दू ने जो ककहरा पढ़ा, उसमें हमारे श्रीराम और श्रीकृष्ण एक ओर ईसामसीह और मुहम्मद की तरह इतिहास-पुरुष बने, तो दूसरी ओर उनकी लीलाएं ऐतिहासिक रूप में स्थापित न होने के कारण काल्पनिक और अवास्तविक रूप में देखी जाने लगीं। इसलिए वह अरूप, निराकार और अनन्त एक की तलाश करता-करता एक विचित्र प्रकार के द्वैत का शिकार हो गया और उसे अपने में ही दो शक्लें दिखाई देने लगीं : एक, घिनौनी और दूसरी, सभ्य। वह प्रगति के पीछे-पीछे दौड़ता-दौड़ता अगति का शिकार हो गया। वह विश्वास की स्थापना की आकुलता में सन्देह से घिर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गया। उसके लिए सामान्य हिन्दू जीवन के लीला-पुरुष अवास्तविक और अप्रामाणिक हो गए, और जिस प्रामाणिक पुरुष की स्थापना उसने करनी चाही, उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में विवाद खड़े हो गए। उसने बौद्धिकता और तार्किकता का नारा लगाया और स्वयं असंगतियों एवं जड़ताओं का शिकार बन गया।

इसका परिणाम आज दो रूपों में देखने को मिल रहा है : औसत बुद्धिवादी सरेबाज़ार अपने को 'हिन्दू' कहने में अत्यन्त सकुचाता है। और जो अपने को हिन्दू उद्घोषित करता है, वह ऐसी निष्ठाओं एवं ऐसे मूल्यों की बात करता है, जो कैसे भी उपयोगी या तात्कालिक महत्त्व के क्यों न हों, हिंदू नहीं हैं। और चाहे जो कुछ हो, जो महज ज़नगणना में 'हिंदू' लिखा जाता है, वह 'हिंदू' शब्द को अपने लिए कोई महत्त्व नहीं देता। वह महत्त्व देता है, हिंदू की अभिव्यंजना जिनमें होती है, ऐसे आकारों, ऐसे अनुष्ठानों, ऐसी अनुभावनाओं और ऐसी संकल्पनाओं को। हिन्दू-जीवनबोध की निरन्तरता साकार होती है गंगा में और अवुद्धिवादी हिंदू उसी गंगा में मरकर आत्मसात् होना चाहता है, ताकि निरंतरता का वोध अखण्डित वना रहे। वह निर्भय सत्य की साकारता देखता है श्रीराम की लीला में, पर उस लीला के प्रेक्षक के रूप में नहीं अभिनेता के रूप में, साझीदार के रूप में। राम के पक्षधर के रूप में अपने को स्थापित करके श्रीराम की नित्य लीला को जो लेता है, वह निविड़ अन्धकार को चीरनेवाले प्रकाश के रूप में देखता है श्रीकृष्ण को और हर जन्माष्टमी को वह अन्धकार को चीरने की प्रक्रिया अनुवर्तित करता है। वह श्मशानवासी, विषपायी मृत्युंजय शिव में समस्त ऐश्वर्य, सम्पूर्ण उल्लास और निखिल विद्याओं का अधिष्ठान देखता है और वसन्त में शिवरात्रि के जागरण—गीतों में करके अपने को शिव की सन्निधि से स्थापित कर लेता है। वह गौरी-गणेश में सौभाग्य, मांगल्य और पारिवारिक स्नेह का उत्कर्ष पाकर मातृ-वत्सलता में अपने को अभिषिक्त कर लेता है। उसके लिए 'हिंदू' कहा जाना कुछ खास महत्त्व नहीं रखता। भीतर के स्पन्दन का छन्द जिन परिवेशों, आचारों और व्यवहारों से मिलता है, जिन भावाभिव्यक्तियों से मिलता है, जिन विचार-पीठिकाओं से मिलता है, जिन साधनाओं से मिलता है, उन सबके वीच रमना ही महत्त्व रखता है।

जो नहीं रम पाता, वही एक भयंकर दुरवस्था को जन्म देता है। वह बात करता है, मार्क्स के आक्रोश और सार्त्र के 'न कुछ' के आतंक की, पर बच्चा बीमार होते ही हनुमानजी को चढ़ाने की मनौती मानने लगता है। एक ओर हिंदू-पुराणों और महाकाव्यों के कथानकों को गप्प घोषित कर श्रीकृष्ण और श्रीराधा के ऐतिहासिक जीवन-चरित की आवश्यकता पर बल देता है, तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरी ओर चमत्कारी महात्माओं के चरणों में अपने को बिछाकर पदोन्नति की कामना करता रहता है––जो वेदांत पर अंग्रेज़ी में व्याख्यान सुन-सुनकर ऊंचे स्तर के आध्यात्मिक बोध की बात करते हुए भी आचरण में घोर असत्य, छल और कपट का ही प्रमाण देता है। तभी संशय होता है, हिन्दू कौन ? हिंदू-धर्म का जोश-खरोश के साथ उपदेश करनेवाला बाबा या पण्डित या मठाधीश या नया साहब या फिर एकदम गंवार निरक्षरआदमी, जिसका अध्यात्म उसकी रोटी से अलग नहीं, जिसकी साधना उसके काम से अलग नहीं, जिसकी भक्ति उसका निजी राग-द्वेष समेटे हुए है ?

हिंदू-धर्म मतप्रधान नहीं; आचारप्रधान है, हिंदू-जीवन श्रद्धाप्रधान है; हिंदू-धर्म संस्था नहीं, संस्थाओं की संस्था है, 'हिंदू-धर्म व्यक्ति-केन्द्रित है, इसका सामाजिक पक्ष बहुत दुर्बल है, हिन्दू-धर्म एक धर्म नहीं, नाना धर्मों का समन्वय है' आदि-आदि बातें जाने कितनी बार दुहराई जा चुकी हैं। इन तमाम बातों का एक ही परिणाम सामने है, कि पढ़ा-लिखा आदमी हिंदू-धर्म के इस अव्याख्येय रूप से इतना अभिभूत है कि या तो वह इसे जादू के रूप में देखता है और कृष्ण-चैतन्य-आंदोलन को हिंदू-धर्म के चमत्कार के रूप में देखता हुआ उच्छ्वसित हो उठता है, गांजे की दम पर भौतिकता को राख में मिलानेवाले हिप्पियों को देखकर गर्व से स्फूर्त हो उठता है या फिर शुद्धि-वादिता से आक्रांत होकर हिंदू-धर्म की जीवन्त समग्रता में ही बहुत-सी चीज़ों को काटकर अलग रखने की बात करता है, उसके बिना उसको हिंदुत्व बड़ा वैसा लगता है। या फिर सिद्ध-कोटि का व्यक्ति हुआ तो वह हिंदू-धर्म से एक-दम उदासीन हो जाता है, उसे फिर केवल दोष ही दोष नजर आते हैं और वह हर दुःख-दैन्य का कारण हिंदू-धर्म को मानता है। चाहे जिस रूप में वह देखे, उसके लिए हिंदू-धर्म या तो रक्षा-कवच बनकर रह जाता है या उसके समस्त दोषों का आवरण !

ऐसे में हिंदू-धर्म और आज के विश्व के बीच सम्बन्ध देखने की बात बड़ी बेमानी लगती है, जब देशकाल-विच्छिन्न हिंदू-धर्म ही स्पष्ट न हो। कम से कम शिक्षित व्यक्ति के सामने उसका कोई परिच्छिन्न रूप न हो, तब देशकालातीत हिंदू धर्म की विश्व-साझेदारी की कल्पना करना बड़ा दम्भ लगता है। तो भी दक्षिणी अमेरिका तक जो एक किसी एक संज्ञा से अपरिभाषित होनेवाली बेचैनी मनुष्य को उन्मथित कर रही है, और जब यास्पर्स जैसा गम्भीर विचारक यह मांग कर रहा हो कि "आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य दूसरे मनुष्यों के साथ जुड़कर अपने को एक ऐतिहासिक इकाई के रूप में विश्व में विलीन कर दे, ताकि विश्वव्यापी बे-घरपने में अपने लिए नया घर पा ले···और यह बौद्धक अमूर्तन-मात्र से सम्भव नहीं, यह सम्भव है समग्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वास्तविकता से एक साथ सम्पूर्ण परिश्लेष से।" जब अतिऔद्योगीकरण के विमानवीकरण का शिकार हो मनुष्य भस्मासुरी अभिशाप में जल रहा हो, तब हिंदू जागरूक हो, न भी हो, हिंदू-धर्म के विश्व साझीदारी के शाश्वत मूल्य तो अपने-आप जाग ही उठते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि 'हिंदू' नाम जैसे पराया है, वैसे ही हिंदुत्व के मूल्यों के लिए आप्लवन भी बाहर से आने पर ही यहां की रेतीली धरती भीगे तो भीगे।

पर जिन्हें देश-काल की सीमाओं को लांघने वाले अपार ज्वार का छींटा भी एक बार मिल चुका है, उन्हें एक बड़ी बेकली सताती है—हिंदू-धर्म के बारे में सामान्य व्यक्ति कैसे सही जानकारी प्राप्त करे, कैसे वह इस हिंदू-धर्म के 'दिक्काल-आबद्ध' (इन्सुलर) और 'दिक्काल-मुक्त' (नानइन्सुलर) रूप के बीच सामंजस्य स्थापित करे, कैसे वह दैनन्दिन जीवन के क्रम में बिना टंट-घंट के एक सहज धर्म की लयबद्धता प्राप्त करे, कैसे वह अपनी दुर्बलताओं के बीच सर्वशक्तिमान को आहूत करे, कैसे वह बिना आहत हुए बहुप्रचारित असत्यों का साहसपूर्वक खण्डन कर सके। संक्षेप में, कैसे वह हिंदू-धर्म को बिना साइनबोर्ड लगाए जीवन में जी सके? इन प्रश्नों का समाधान पाने का दावा करना एक नया दम्भ होगा। यहां टटोलने की कोशिश की जा रही है।

आज का विश्व संचार-साधनों के द्वारा इतना जुड़कर भी खण्ड-खण्ड टूट रहा है, इसका केन्द्र खिसक रहा है, इसका वृत्त टूट रहा है, पर आदमी आदमियत खोने के भय से फिर से अपने से जुड़ने के लिए बेचैन है। उस समय दुरन्त अकेलेपन की हताशा में हिंदू-धर्म एक आश्वासन देता है, पर उस आश्वासन को आकार कौन दे? जो स्वयं उस आश्वासन को प्रवंचना मानता हैं, वह दे सकेगा? या वह दे सकेगा जो इस आश्वासन को शुद्ध अपनी आय का, अपनी निजी प्रतिष्ठा का साधन बनाए हुए है? या संशयग्रस्त बीच का आदमी, जो डर के मारे, घर के डर के मारे धार्मिक बने रहने में अपना त्राण देखता है? या वह आदमी जो इस आश्वासन से स्वयं तो आश्वस्त है, लम्बी डगर पर चलने का उसे अभ्यास जो है, पर दूसरों तक इस आश्वासन को पहुंचाने की भाषा उसके पास नहीं, उसके पास केवल एक नीरव अभिव्यक्ति है? ये प्रश्न जितने सार्थक आज हैं, उतने कभी न रहे हों, ऐसी बात नहीं, लेकिन जितनी व्यापकता-सार्थकता आज है, उतनी कभी नहीं थी, यह नितांत सत्य है।

मैं अपने को एक ऐसा गंवार हिंदू मानकर, जिसके पास कुछ टूटी-फूटी भाषा है, इन प्रश्नों की चुनौती स्वीकार करना चाहता हूं। भय मुझे भी कम नहीं; क्योंकि मैं भी तो शिक्षित मनुष्य हूं, पर एक बहुत ही झीनी-सी किरण जुगजुगाती है कि शायद यह चुनौती सुन पाना ही कुछ अपने में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विश्वास भरे और मैं यह प्रतिपादित कर सकूं कि हिंदू-धर्म समाजशास्त्रियों द्वारा शव-परीक्षा के लिए प्रस्तुत काय-विज्ञान के अभ्यास की सामग्री नहीं, यह एक स्पन्दित जीवन-निष्ठा है, जो इसका हो जाता है, वह कहता नहीं कि यह जीवन-निष्ठा मेरी है और तब तक वह इस निष्ठा का बिराना ही बना रहता है।

मैं तो ईमानदारी से यह मानता हूं कि हिंदू-धर्म का कोई सन्देश यदि हो सकता है तो यही कि व्यक्ति का धर्म स्वनुष्ठित होकर सर्वधर्म का बिंदु बने। इससे अधिक सन्देश की कामना हिंदू-धर्म नहीं करता, इसीलिए वह सर्वजनीन है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

६

संस्कृत साहित्य की पहचान

संस्कृत साहित्य को भारत की एक सांस्कृतिक धारा के स्रोत के रूप में देखने के पहले संस्कृत भाषा और उस भाषा के व्यवहार करने वाले समुदाय को समझना आवश्यक है। वस्तुतः संस्कृत नाम संस्कार-केन्द्रित भारतीय जीवन का उपलक्षण है। संस्कार का अर्थ कृत्रिम प्रक्रिया नहीं बल्कि जीवन के गहन प्रयोजन की योग्यता पाने की सहज प्रक्रिया है। जब संस्कृत लोकभाषा नहीं भी रही, तब भी लोक-समादृत भाषा बनी रही और आज भी हमारे संस्कार की वह भाषा बनी हुई है। संस्कृत-भाषी समुदाय की मुख्य रूप से सात विशेषताएं हैं। पहली तो यह कि यह समुदाय रक्त या वर्ण या विश्वास के आधार पर एक नहीं था। आर्य शब्द का व्यवहार गुणवाचक अर्थ में है, जातिवाचक अर्थ में नहीं। आचरण ही आर्यत्व का विवेचक रहा और आचरण की एकता में पृथ्वीसूक्त में वर्णित नानात्व बंधा रहा। दूसरी विशेषता है कि वह समुदाय के शुरू से ही देश-कालातीत होकर भी सोचता रहा। उस समुदाय ने केवल आचरण के सौष्ठव की मर्यादा स्वीकार की और इसलिए अपने धर्म का नाम और अपनी भाषा का नाम भौगोलिक या जातीय आधार पर नहीं रखा। उस समुदाय की तीसरी विशेषता है, ज्ञान के निरन्तर अन्वेषण का आग्रह। वेद का प्रामाण्य जिन लोगों ने माना, उन्होंने वेद के रूप में ज्ञान की निरन्तरता का, परम्परा की संलग्नता का ही आग्रह रखा; जिन्होंने नहीं माना उन्होंने तर्क की प्रतिष्ठा स्वीकार की। इस समुदाय की चौथी विशेषता थी वाचिक परम्परा में विश्वास। प्रतिदिन के जीवन में, चिन्तन में और साधना में सर्वत्र वाग्देवता का प्राधान्य स्वीकृत रहा है। इस समुदाय की पांचवीं विशेषता है जगत् के साथ उनकी सामरस्य-दृष्टि। सामरस्य सिद्ध वस्तु नहीं, निरन्तर साध्य वस्तु है और यह सामरस्य प्रकृति और मनुष्य की निर्मिति, प्राकृतिक परिवेश और सामाजिक परिवेश दोनों में अभीष्ट है। संघर्ष के लिए स्थान हमारे चिन्तन में है, पर वहां परिवेश से नहीं परिवेश के अधूरे ज्ञान या अज्ञान से है। सामरस्य वस्तुतः तादात्म्य के लिए भावनात्मक प्रयत्न है। इसी को साहित्य में, भक्ति की साधना में और कला में मिथुनीभवन द्वारा व्यक्त किया गया है। उसकी छठी विशेषता है स्वातंत्र्य की परिकल्पना। स्वातंत्र्य का अर्थ पर का लोप नहीं, सबका विस्तार है। स्वतंत्रता की कामना बौद्धिक ताटस्थ्य की कामना नहीं, स्वात्मायतनविश्रान्तप्रतिभा के प्रस्फुटन की कामना है। अन्तिम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेषता है परोक्ष-प्रियता। ब्राह्मणों में देवताओं को परोक्ष-प्रिय कहा गया है। जिस प्रकार यज्ञ का पुष्करपर्ण वनस्पति-जगत् का पुष्करपर्ण नहीं, उसी प्रकार भारतीय कला का कमल ऐन्द्रिय अनुभव का कमल नहीं। यह कमल कुमार-स्वामी के शब्दों में अधिदैवत है, प्रत्यक्ष नहीं। संस्कृत में प्रतीकवाद अर्थ का द्वार है और साहित्य का प्राण है, वह अपने में साध्य नहीं।

संस्कृत साहित्य इसी समुदाय का जातीय बोध है। इस समुदाय की उदार दृष्टि ही संस्कृत साहित्य को ऐसी विशालता और एक ऐसा शाश्वत मूल्य प्रदान कर सकी है, जिसके कारण वह हमारी समग्रता का—मात्र एकता का ही नहीं—आज भी प्रमाण है। इस साहित्य की आधार-भूमि ही समूचे भारतीय साहित्य की तमाम विजातीय प्रभावों के बावजूद आधार-भूमि है।

संस्कृत साहित्य के मूलभूत आधार की हम पांच मुख्य खण्डों में विश्लेषण करके देख सकते हैं। पहला आधार है जगत् के बारे में विशिष्ट सम्पृक्त पर स्वतन्त्र दृष्टि। संस्कृत साहित्य में वस्तु-जगत् का दर्शन किसी एक झरोखे से करने का यत्न नहीं है। वस्तु-जगत् जिस रूप में अनुभव करने वाले रचनाकार या सहृदय के मन में है, उसी रूप में साहित्य में अभिव्यक्त किया गया है। साहित्य का जगत् न तो काल्पनिक है, न वास्तविक। वह वस्तुतः आनुभाविक है। यही नहीं, बल जगत् के अनुभूत होने पर नहीं, अनुभविता के उस जगत् में अधिष्ठित होने पर है। यही कारण है कि कभी-कभी जगत् का चित्र बहुत गणितात्मक-सा प्रतीत होने लगता है, सौन्दर्य के वर्णन एक सतही दृष्टि में लकीर से बंधे दिखने लगते हैं। पर गहराई में जाते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि ये बंधे से वर्णन या निश्चित व्यवस्था वाली ध्यान-मुद्राएं माध्यम है अनिवर्चनीय अनुभव से जुड़े अनुभविता को व्यक्त करने के लिए।

दूसरा आधार है दिक्कालातीत बोध। पश्चिमी साहित्य में काल की सीमा की सजगता मिलेगी और देश के वैशिष्ट्य का आग्रह। पर संस्कृत साहित्य में इतिहास और मिथ पर्यायवाची हैं। साहित्य के आराध्य इतिहास से मुक्त हैं। वाल्मीकि के राम और भवभूति के राम में इसीलिए विरोध नहीं है कि दोनों सत्य के निरन्तर प्रवाह में स्थित एक सत्ता हैं। इस साहित्य में एक क्षण पर नहीं, क्षणों की सन्तानवाही धारा पर बल है। कमल और हंस-मिथुन की पट्टिका के द्वारा कला में, जन्मजन्मान्तर तक चलनेवाले प्रेम के द्वारा कथा में और एक प्रदीप से प्रवर्जित होने वाले दूसरे प्रदीप की शृंखला के द्वारा काव्य में इसी निरन्तरता की अभिव्यक्ति की गई है। युग काल का बोधक नहीं, वृत्ति का बोधक है। काल के बंधन की उपेक्षा करते हुए भी इसी लिए काल के प्रवाह की बहुत प्रखर अभिव्यंजना संस्कृत साहित्य में मिलती है। यह कालचक्र दूसरे शब्दों में, ऋतुचक्र या संवत्सर जीवनरूपी यज्ञ से अविलग है। यही बौद्ध भाषा में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धर्मचक्र है। देश सीमित बोध का भी संस्कृत साहित्य में अभाव है। जैसे भारतीय शिल्प और कला में प्राकृतिक पृष्ठभूमि छोरों पर न होकर चित्र या शिला के ऊपरी भाग पर होती है, वैसे ही साहित्य में प्रकृति वर्णन विलग न होकर शीर्षस्थ रहता है। प्रकृति-वर्णन का उद्देश्य वस्तु को उभारना उतना नहीं है जितना कि उसको ओत-प्रोत करना। भौगोलिक अर्थ में भी देश का बोध एक सीमा के रूप में न होकर सीमातीत विश्व की संदृश्य अभिव्यक्ति में है। हिमालय मात्र भारत का ही मानदंड नहीं, पृथ्वीमात्र का मानदंड है। गंगा उत्तर भारत की ही नदी नहीं, त्रिभुवनमात्र में प्रवाहित होनेवाली शुचिता की धारा है। भारत का निर्धारण एक विशाल कुल की कल्पना में है, जिसमें पर्वत-नदी से लेकर देव-किन्नर और पशु-पक्षी से लेकर वनस्पति तक मनुष्य के बराबर साझीदार हैं। भारत भौगोलिक सीमा नहीं, तप और कर्म से अभिभावित समुदाय का विस्तार है। वह एक चढ़ा हुआ धनुष है, एक जगती हुई यज्ञवेदी है।

तीसरा आधार है पुरुषवाद। पुरुष का अर्थ मनुष्यमात्र नहीं, चैतन्य से प्रवहमान पिंडमात्र है। संस्कृत साहित्य का पुरुषार्थ पिंडमात्र में एक अखंड प्रवाह देखना है। पुरुषवाद का अर्थ है लोकमन पर लोकातीत विराट् पुरुष की प्रतिष्ठा, शैव भाषा में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की एकाकारता की प्रतिष्ठा। मानववाद इस पुरुषवाद का एक वामन रूप-मात्र है, जो अभिमानी को छलने भर को है। संस्कृत साहित्य का रचयिता अपनी रचनाशक्ति को आह्लादिनी के रूप में या संघिनी शक्ति के रूप में देखता है। यह संघिनी शक्ति अधूरे और पूरे के बीच, साधक और शिव के बीच की कड़ी है।

चौथा आधार है संस्कृत साहित्य की शिवदृष्टि। कहीं-कहीं इस दृष्टि का प्रसार निषेधमुख से शिवेतर-क्षति के रूप और में कहीं-कहीं विधि-मुख से लोक-मंगल की दृष्टि में हुआ है, पर यह दृष्टि है सर्वत्र। यह मानव-शरीर को भी शिव का अधिष्ठान मानती है। संस्कृत साहित्य में आध्यात्मिकता का नारा इसी लिए कहीं सुनने को नहीं मिलता। शिव तो शरीर में, वाणी में, श्रुति में, दृष्टि में प्रतिष्ठित है, उसके बाहर क्यों ढूंढ़ा जाए? इसी लिए दुःखान्त कल्पना भी नहीं हैं। दुःख में अन्त वहीं होगा, जहां देह या दृश्य जगत् पारमार्थिक दृष्टि से प्रतिकूल या अकाम्य होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय साहित्य में कारुण्य-बोध नहीं है। हमारा कारुण्य-बोध इसी प्रकार का है। शिवेतर का अर्थ शिव का प्रतिषेध नहीं और शिवेतर-क्षति का अर्थ शिव की केन्द्रापसारी शक्ति का नाश है, तिरोभाव नहीं है। शिव-दृष्टि के ही कारण संस्कृत साहित्य में तप और तपोवन की शक्ति की, तितिक्षा की, त्याग की, अखंड जीवन-बोध की और परहित साधना की इतनी महिमा है।

इन सब आधारों से भी बड़ा आधार है सत् और असत् का उतना नहीं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धर्म-अधर्म का भी नहीं, जितना परमार्थ-सत् और व्यवहार-सत् के अन्तर्द्वन्द्व द्वारा मनुष्य के विवेक का विस्तार है। जिन लोगों की नज़र संस्कृत साहित्य में भौतिक विलास, उद्दाम शृंगार और निभृत प्रेमलीला मात्र पर जाकर टिकती है, उन्हें स्मरण करना चाहिए कि प्रेम की तीव्रता का निरूपण इतने स्वाभाविक रूप में इसलिए कराया गया है कि तीव्रता पुण्य-अपुण्य दोनों का क्षय कर सके :

दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभा :
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमांगला: ।।
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगता :
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणवन्धना ।।

विरह के तीव्र ताप से पाप का भोग निश्शेष करा सके, अच्युत के आलिंगन के ध्यान-सुख से पुण्य का भोग निश्शेष कर सके, इस प्रकार दोनों से युक्त करके जीव को परमात्मा से संगत कर सके। यहां अन्तर्द्वन्द्व का समाधान विवेक में मिलता है—विवेक आत्मा और अनात्मा में। कालिदास के काव्य में पार्वती का 'पर्याप्तसन्ध्येव शरत्त्रियामा' के रूप में चित्रण प्रेम की धौत शुभ्रता का चित्रण है; भवभूति की सीता को 'दुग्धकुल्येव' दृष्टि से राम का अभिषेक सीता में निहित अमृतकला का ही छिड़काव है; बाणभट्ट की कादम्बरी और श्रीहर्ष की दमयन्ती के प्रेम में भी जो एकनिष्ठता है, वह विवेक को बिसरा कर नहीं, क्योंकि ये दोनों नायिकाएं मर्यादा का अतिक्रमण करती हुईं भी एक-निष्ठ हैं।

विवेक के इस स्वर के ही कारण उत्तम नायक उद्धत नहीं, प्रशान्त नहीं, ललित नहीं, उदात्त है। विवेक का ही एक प्रकार है काम का भस्म होना और तप के द्वारा रूप की अवन्ध्यता लाना। इसी के कारण रोमांटिक प्रवृत्ति का लगभग अभाव-सा दीखता है। संस्कृत साहित्य की मूल-धारा में एक छोटी सी धारा है, रोमांटिक प्रणय-गाथा की, पर वह भी विवेक की चौड़ी धारा में आकर विलीन हो गई है। यह विवेक ही संस्कृत के मानव का मस्तक देवता के सम्मुख युद्ध में उन्नत रखता है—रघु, अर्जुन, नल, और राम इसी लिए तो संस्कृत साहित्य की मानवीय परिकल्पना के प्रतिमान बन गए हैं। पर इतना है कि यह विवेक ताटस्थ्य का विवेक नहीं, यह तादात्म्य लाने वाला विवेक है; यह आरोपित भी नहीं है, यह अन्तःकरण का सहज विवर्तन है। यहीं यह पश्चिमी बौद्धिकता से (जो कभी-कभी क्या, प्रायः ही बहुत निर्मम है) और चीनी निश्चिन्तता से विलग है।

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य की इस आधार-शिला पर ही भारतीय जीवन-दृष्टि आज भी आधारित है और आज भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विभिन्न भाषाओं में विभिन्न प्रकार के घात-प्रतिघात को वहन करते हुए एक अखंड चेतना से उद्भासित तमाम साहित्यों को जोड़ने वाली शक्ति आज भी संस्कृत और उसमें निहित सांस्कृतिक सम्पत्ति में ही सबसे अधिक सशक्त रूप में दिखती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७

भारतीय लोक-साहित्य की पहचान

इधर लोक-साहित्य के सम्बन्ध में फैशन और अध्ययन, दोनों प्रकार के दृष्टि रखनेवाले लोगों ने गहरी रुचि दिखलाई है। एक ओर तो लघु कथा और कविता में लिखे लोक-गीतों के बिम्ब और शब्द-विन्यास तथा संवाद-शैली अपनाकर ताज़गी का आभास देने की कोशिश की गई है, दूसरी ओर अतिशय आशंसा से प्रेरित होकर लोक-साहित्य की खूबियों का विशद बखान किया गया है। कुछ इने-गिने ऐसे भी रूढ़िवादी हैं, जो लोक-साहित्य को असंस्कृत और अत्यन्त हेय समझते हैं और लोक-साहित्य के आन्दोलन को ही गलत बतलाते हैं। इन तीनों से अलग सरकार का दृष्टिकोण है, जो लोक-साहित्य की ताज़गी, ज़िन्दादिली और लयदारी का भरपूर उपयोग अपनी योजनाओं के लिए उत्साह जगाने में करना चाहती है। इस प्रकार, बावजूद इसके कि लोक-साहित्य की चर्चाओं की बड़ी धूम है, लोक-साहित्य के बारे में निर्भ्रान्त और तटस्थ विवेचन की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान है। लोक-साहित्य की असलियत की पहचान क्यों ज़रूरी है, यह उन लोगों को तो मालूम है जो समाजशास्त्रीय दृष्टि से लोकसाहित्य का अध्ययन करना चाहते हैं, या शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से इसका पर्यालोचन करना चाहते हैं या जो भाषा-विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करना चाहते हैं। उन सबको एक बात का अवश्य ध्यान रखना होता है कि हमारे सामने परीक्षण के लिए जो सामग्री उपस्थित है, वह प्रामाणिक रूप में असली है, नहीं तो हमारा निष्कर्ष गलत हो सकता है। अब तो सवाल यह उठता है कि असलियत कैसे पहचानी जाए—विषय-वस्तु से, भाषा से या शिल्प-विधान से? यह स्पष्ट है कि विषय-वस्तु निर्णायक नहीं हो सकती, क्योंकि ग्राम्य जीवन के सुख-दुःख लोक-साहित्य की इज़ारेदारी में नहीं आते। अन्य प्रकार के साहित्य में भी उनका वर्णन हो सकता है और होता है। इसी प्रकार भाषा भी निर्णायक नहीं हो सकती, क्योंकि मात्र-शब्दावली में लिखने से कोई चीज़ यदि लोक-साहित्य बन जाए तो रामचरितमानस और विद्यापति के पद लोक-साहित्य के ही अंग माने जाएंगे। तो पारिशेष्य से बच जाता है, शिल्प-विधान। इस निबन्ध में हम इसी दृष्टि से भारतीय लोक-साहित्य की पहचान कराना चाहेंगे।

हम इतना मानकर तो चलें ही कि भारतीय लोक-साहित्य की भाषा परितिष्ठित और साहित्यिक भाषा न होकर साधारण जन की भाषा है और उसकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्ण्य वस्तु लोक-जीवन में गृहीत चरित्रों, भावों और प्रभावों तक सीमित है। यह तो लोक-साहित्य की पहली मर्यादा हुई। इसकी दूसरी मर्यादा है, उसकी रचना में व्यक्ति का नहीं वल्कि समूचे समाज का समवेत योगदान। यही कारण है कि लोक-साहित्य के ऊपर व्यक्ति की छाप न हो करके समग्र व्यक्ति-लोक की छाप होती है। शिल्प-विधान की वात करते समय हम जब इन दो मुख्य मर्यादाओं को सामने रखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें शिल्प-विधान के लिए कोई अभ्यास-कौशल परिलक्षित नहीं हो सकता, क्योंकि शिल्प का विधान हमें यदि दिखता है तो वह सामाजिक समरसता की विवशता के कारण अपने-आप उद्भूत रूप में ही। वैसे प्रचलित अर्थ में शिल्प-विधान की वात यहां नहीं उठाई जा सकती। लोग समझते यही हैं कि शिल्प के पीछे एक पूर्व-चिन्तित व्यापार अवश्य सन्निहित होता है और चूंकि लोक-साहित्य में ऐसा कोई व्यापार होने की सम्भावना नहीं है, इसी लिए उसके शिल्प-विधान की वात नहीं उठती। पर तात्त्विक दृष्टि से देखने पर शिल्प-विधान का अर्थ है अभिव्यक्ति को अभिव्यंज्य से जोड़ना। जो वात कही जा रही है, वह वात किस रूप में कही जाए कि अभिप्रेत अर्थ ही घोषित हो, और न केवल द्योतित हो वल्कि प्रभावकारी रूप में द्योतित हो। यह उस वात से कम महत्त्व नहीं रखती और एक तरह से कहा जाए तो उस वात का अपरिहार्य अंग है। यह अंग ही शिल्प-विधान है।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र में जिसे रीति कहा गया है, वह शिल्प-विधान का एक अंश-मात्र है। रीति की सैद्धान्तिक धारणा जो भी हो, उसका प्रायोगिक रूप मात्र वर्ण-संघटना ही है। शिल्प-विधान वर्ण-संघटना के अलावा बिम्ब-विधान, लय और ताल का मेल, कथोपकथन-शैली और प्रारम्भ एवं उपसंहार का विन्यास भी है। अंग्रेज़ी में भी जिसे टेकनीक कहा जाता है, औरआलोचना में जिसकी विधा संज्ञा दी जाती है, उससे भी इस माने में शिल्प-विधान आगे है कि टेकनीक या विधा अभिव्यक्ति की सतह पर ही रहते हैं, अभिव्यंज्य की गहराई तक नहीं जाते। प्राचीन कला-शास्त्र में इसके लिए वर्तनी शब्दआया है, उसका भी व्युत्पत्तिजन्य अभिप्राय यह है कि अभिव्यक्ति का मोड़ कैसा होना चाहिए, यही वर्तनी है। शिल्प-विधान मात्र मोड़ नहींहै। यहअभिव्यक्ति और अभिव्यंज्य की सन्धि में। जैसे जोड़ का न दिखलाई पड़ना ही उसकी सुन्दरता है वैसे ही इसका भी लक्षित न होना ही इसका चरम उत्कर्ष है। कला शब्द का अर्थ भी जोड़ना ही है और जो कला जितनी ही अलक्षित रहती है, उतनी ही प्रभावकारी हो पाती है।

इस दृष्टि से देखने से लोक-साहित्य में शिल्प-विधान अपने उत्कर्ष पर है, क्योंकि वह सबसे अधिक यहीं पर निरभिमान, निर्व्याज और निसर्गोद्भूत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कालिदास ने जिसे 'भ्रूविलासानभिज्ञ प्रीतिस्निग्ध जनपद-वधू-लोचन' की छवि के द्वारा नीरद-राशि का पान कराया है, वह छवि ही इस शिल्प-विधान की जान है। बांकपन से इसका परिचय नहीं, विदग्धता का इसमें धैर्य नहीं और संवार का इसे ध्यान नहीं। जो सौष्ठव है, वह ऐसा है कि भीतर की प्रीति से अपने-आप रच गया है और जो पानी है, वह ऐसा है, जो विना पत्थर पर सान चढ़ाए अपने-आप भीतर के तेज से निखर गया है। कहा जा सकता है कि यह तो विषय-वस्तु की बात हुई, इसे शिल्प-विधान के अन्तर्गत क्यों लाया जा रहा है? तो उत्तर यह है कि शिल्प-विधान का अर्थ ही यह है कि वह विषय-वस्तु के साथ ऐसा मेल खाए कि विषय-वस्तु उसी के भीतर आकर रहे, उसके बाहर न जाए। अनुहार के लिए आभ्यन्तर प्रयत्न ही शिल्प-विधान है। यह आभ्यन्तर प्रयत्न कितने प्रकार का लोक-साहित्य में हो सकता है, इसकी हम आगे मीमांसा करेंगे। लोक-साहित्य के मुख्यतः चार भेद कहे जाते हैं: लोक-गीत, लोक-गाथा, लोक-कथा और लोक-नाट्य। लोक-गाथा और लोक-कथा में भेद इतना ही है कि लोक-गाथा एक लम्बे आख्यान-गीत के रूप में चलती है और इसमें प्रबन्ध-योजना गाथा-प्रधान न होकर रस-प्रधान होती है, जबकि लोक-कथा गद्यात्मक होने के साथ-साथ कथा-प्रधान या दूसरे शब्दों में घटना-प्रधान हुआ करती है। लोक-नाट्य जन-सुलभ रंगमंच को दृष्टि में रखकर आंगिक और वाचिक अभिनय पर आधृत स्वांग या लीला तक ही सीमित रहता है। इसमें सामयिकता का विशेष ध्यान रहने के कारण स्थायी प्रभाव डालने की क्षमता नहीं होती। लोक-कथाओं और लोक-गाथाओं में कथा-शिल्प ही प्रमुख रहता है। केवल लोक-गान ही ऐसा प्रकार है जिसमें अपने समग्र रूप में शिल्प-विधान विकसित हो सकता है। इन चारों प्रकार के रूपों में शिल्प-विधान के ये अंग समान रूप से अपेक्षित हैं।

पहला है, शब्द या शब्द-समूहों की पुनरावृत्ति। ये शब्द या तो लोक-परम्परा में गृहीत मांगलिक विशेषणवाची होते हैं या केन्द्रभूत अर्थ के व्यंजक होते हैं। जब कोई पात्र किसी प्रश्न का उत्तर देता है तो उस प्रश्न के प्रयुक्त शब्दों को और उसके विशेषणों का ज्यों-का-त्यों उत्तर में अनुवाद करते हैं। जैसे प्रसंग है कि···

को मोरे आगे पीछै बैठइ को लट छोरे।
को मोरी जागइ रयनिया त नरवा छिनावइ॥
बन से निकरी बन तपसिन सितै समझावै।
सीता हम तोरे आगे पीछै बैठब हम लट छोरब।
हम तोरी जगबै रयनिया त नरवा छिनउबै॥

यह इसलिए किया जाता है कि अर्थ की प्रतीति में कोई व्यवधान न हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी तरह थाली अगर हो तो सोने की ही हो, चौकी अगर हो तो चन्दन की ही हो, अटारी यदि हो तो ऊंची ही हो, बैठने की बात यदि आए तो मचिया ज़रूर आए, घोड़ा अगर हो तो नीला ही हो, डोरी हो तो रेशम की ही हो, सेज हो तो वेले की कलियाँ भी वहां बिछी हों। ऐसा साहचर्य जो लोक-परम्परा में गृहीत है, लोक-साहित्य में कवि-समय की तरह ही अभिप्राय समझा जाता है, ऐसे जोड़ों की पुनरावृत्ति अर्थ की स्पष्टता और लोक-साहित्य की परम्परा की स्मृति के लिए की जाती है। तीसरी प्रकार की पुनरावृत्ति सामाजिक और आध्यात्मिक कारणों से होती है। उदाहरण के लिए, सात भाइयों के बीच में एक बहिन का होना, प्रियतम के विदेश जाने पर बारह वर्ष तक एकतान प्रतीक्षा करना, ननद-भौजाई और सास-बहू के बीच विरसता की कल्पना, भाई-बहिन के निश्छल स्नेह की रचना, पुत्र का पुत्री से अधिक महत्त्व होना और खरी बात कहने वाले को पहले दुःख भोगाकर समाज में विजयी बनाना——ये भारतीय लोक-साहित्य के ऐसे अभिमत तथ्य है कि जिन्हें सामाजिक अवस्था की परिणति ही कहा जा सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से तीन की संख्या का महत्त्व, अधर्म के ऊपर धर्म की विजय, अपनी खुशी में जड़-चेतन सबको साझीदार बनाने का उत्साह और अपने दुःख में प्रकृति सहानुभूतिमय देखने की शक्ति——ये अभिप्राय भी ऐसे मर्मभूत सत्य के रूप में लोक-साहित्य में गृहीत हुए हैं कि इनमें एक न एक बात पर छिड़े बिना नहीं रहती। लोक-कथानकों में इन आध्यात्मिक अभिप्रायों की पुनरावृत्ति सबसे अधिक मिलती है। इस पुनरावृत्ति की परम्परा का स्रोत आरण्यकों और उपनिषदों में ढूँढ़ा जा सकता है। सत्य जिस रूप में समाज से परिचित होता है, उसी रूप में वह सत्य असंदिग्ध रूप में समझा जा सकता है। दूसरे रूप में उसकी अन्यथा प्रतीति की आशंका रहती है। इसी लिए सत्य की अनुसंधित्सा जहां मुख्य प्रतीति हो, वहां सत्य को दस रंगों में रंगने की कोशिश करना उद्देश्य में बाधक हो सकता है। बात कुछ अटपटी लगेगी, पर उपनिषद् और लोक-साहित्य का मूल स्वर इस माने में एक है कि सहज सत्य की उपलब्धि के लिए दोनों में समान रूप से बेचैनी है। उपनिषद् भी एक व्यक्ति की रचना नहीं, वरन् नाना प्रकार के विचारकों के चिन्तन और मनन में सहभागी, सहज जीवन बितानेवाले समाज द्वारा सत्य का साक्षात्कार है और लोक-साहित्य भी मंगल के लिए निरन्तर कर्मशील लोक-जीवन की चरम और सामूहिक उपलब्धि है।

दूसरा वैशिष्ट्य है अनपेक्षित कथांश का परिहार और केवल मर्मभूत कथांश का मर्म-विन्यास। लोक-मानस का कुतूहल किस अंश तक सीमित है, इसकी ठीक-ठीक परख रखते हुए लोक-साहित्य बराबर उन अंशों को जोड़ते हुए चलता है, जो अंश अपने-आप गम्य हो सकते हैं और जिनके बीच में जोड़ देने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से कथा के रस में व्याघात उपस्थित हो सकता है। उदाहरण के लिए, हरिणी वाला प्रसिद्ध सौहर ही ले लीजिए···

छापक पेड़ छिउलिया तौ पतवन गहबर।
अरे रामा तिहितां ठाढ़ी हरिनियां त मन अति अनमनि हो !
चरतइ चरत हरिनवां तौ हरिनी से पूछइ हो—
हरिनी की तौर चरहा भुरान न पानी बिन मुरझिउ हो !
नाहीं मोर चरहा भुरान न पानी बिन मुरझिउं हो—
हरिना आज राजाजी के छट्ठे तुम्हें मारि डरिहइं हो !
मचियैं बैठी कौसिल्या रानी हरिनी अरज करइ हो—
रानी मसवा तो सिझही रसोइयां खलरिया हमें देतिउ ।।
पेड़वा से टंगवइ खलरिया न मन समुझाउत हो—
रानी हेरि फेरि देखबइ खलरिया जनुक हरिना जिअतइ हो।
जाहु हरिनि घर अपने खलरिया नाहीं देवइ हो—
हरिनी ! खलरी क खंजड़ी मिढ़उवह त राम मोर खेलिहइ हो ।।
जब जब बाजइ खंजड़िया सवद सुनि अनकइ हो।
हरिनी ठाढ़ि ढेकुलिया के नीचे हरिन के विसूरइ हो ।।

—यह वातावरण का चित्र है। हरिणी से हरिण एक प्रश्न पूछता है : वस इतना काफी है, फिर यह कहने की ज़रूरत नहीं कि हरिण उत्तर दे रहा है और उत्तर से ही यह वात गम्य हो गई कि हरिण छट्ठी के लिए मार डाला गया और इस कथाक्रम में हरिण का मारना नहीं कहा गया है। फिर हरिणी और कौशल्या का संवाद हैऔर कौशल्या के उत्तर से ही यह वात गम्य हो जाती है कि हरिणी को निराश होकर लौटना पड़ा, इसके कहने की ज़रूरत नहीं है। हां, इस चित्र का सवसे मर्म-स्पर्शी रूप हरिणी का सामने हरिण के चर्म से वनी खंजड़ी सुनकर उसका स्मरण करना, सवसे अन्त में वह रखा गया है। लोक-कथाओं में यह वैशिष्ट्य और अधिक महत्त्व रखता है। जहां एक ओर एक साभिप्राय बात बराबर दुहराई जाएगी, वहां अभिप्राय से वहिर्भूत वात एकदम छोड़कर कथानक आगे चल देंगे। लोक-साहित्य ऐसे परिहार्य अंशों के वर्णन के लोभ में नहीं फंसता, उसके लिए वातावरण का चित्र केवल प्रतीक है। उपन्यासों में जैसे लम्बे वर्णन हमें मिलते हैं और यह कहा जाता है कि यह वर्णन चरित्र-चित्रण औरकथा-निर्वाह के लिए अत्यन्त आवश्यक है, वैसी वातयहां नहीं है। उपन्यास में क्रम उलट-पलट दिया जाता है या कथा में अधिक रस-प्रकर्ष आने पर ध्यान अन्यत्र आकृष्ट करके थोड़ा-सा मन को हलकेपन का वोध दिया जाता है, पर लोक-कथा में या लोक-गाथा में कथा को उत्कर्ष पर पहुंचाकर छोड़ दिया जाता है और अंत में केवल एक भरत-वाक्य जैसी चीज़ ज़रूर छोड़ दी जाती है—जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनके दिल बहुरे, या नेकी नेक राह, बदी बद राह, या अन्याय परिशोधित हुए विना नहीं रहेगा या ये सारे दुःख भूल गए, बधाई बजने लगी। गीतों में मंगल की कामना अत्यन्त सूक्ष्मता से व्यक्त होती है। कभी-कभी मंगल की बात लय की लहक में ही आकर रह जाती है। अधिकांश सोहरों की अन्तिम पंक्ति के के आते-आते दुःख लगता है, उमड़-घुमड़कर छा गया है और इतने ही में लय ऐसे मोड़ खाती है कि सारी उमड़न-घुमड़न तितर-वितर हो जाती है।

इस विगत दशक के भीतर हिन्दी कथा-साहित्य में लोक-कथा से प्रेरणा लेकर अनेक सफल प्रयत्न हुए हैं। यहां उनके नामोल्लेख का प्रसंग नहीं है, इसलिए इनका नामोल्लेख न करके केवल इतना बतलाना आवश्यक है कि लोक-कथा की उच्छृंखलता तो इनमें ज़रूर आई है, पर सादगी नहीं आ पाई है। इसका कारण यह है कि जिस बात में कथा सुनने वाले का कोई रस नहीं है, उसको भी मात्र अपने व्यक्तिगत रस के कारण विशद रूप देने का लोभ आधुनिक कथाकार संवरण नहीं कर पाते। मैला आंचल, परती परिकथा, आरण्यक, बूंद और समुद्र, मृगनयनी जैसे सरस उपन्यासों में यह दोष स्पष्ट रूप से संलक्षित है। इन उपन्यासों का सौन्दर्य सबसे अधिक इसी दोष से अपकृष्ट हुआ है। लोक-साहित्य में जो यह वैशिष्ट्य अपने निखरे हुए रूप में मिलता है, उसका कारण भी यही है कि लोक-साहित्य की रचना व्यक्ति के पूर्वराग या पूर्वद्वेष द्वारा नहीं होती। इसी लिए समस्त लोक की प्रत्याशाओं का ठीक-ठीक आकलन करने में वह समर्थ होता है।

इस शिल्प-विधान का तीसरा वैशिष्ट्य है ऐसा बिम्ब-विधान, जो लोक-कल्पना की परिधि में आता हो अर्थात् जो लोकोत्तर न हो। यह वैशिष्ट्य अकेला ही ऐसा है, जो भारतीय लोक-साहित्य को परिनिष्ठित साहित्य से पृथक् कर देता है। व्यक्ति-साहित्य के बिम्ब शुद्ध रूप में लौकिक नहीं हो पाते, उनमें व्यक्ति-वैलक्षण्य आ ही जाता है और इसी लिए उनके बिम्बों को समझने के लिए उनके अनुभव के उस क्षण को भी समझना आवश्यक हो जाता है जिसमें वे बिम्ब गृहीत हुए हों। शेली की कविता की व्याख्या करते समय अच्छे व्याख्याकार उस कविता के बिम्ब का स्रोत ज़रूर बतलाते हैं। लोक-साहित्य में जो बिम्ब गृहीत हुए हैं, वे जातीय जीवन के साथ इतने घनिष्ठ रूप से परिचित हैं कि अनुभूति के एक क्षण का महत्त्व नहीं रहता। उदाहरण के लिए चन्दन की किवाड़ी, सोने की थाली या सोने के गड़ुवे में गंगाजल पानी ऐसे बिम्ब हैं जो एक विशिष्ट जाति की कल्पना में मंगल का पूर्ण बोध करा देने में समर्थ हैं या जैसे यह बिम्ब लीजिए—

कवनि उमरिया सासु निबिया लगायेन,
कवनि उमरिया गए विदेसवा हो राम!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खेलत कूदत वहुवरि निविया लगाए,
रेखिया भिनत गे विदेसवा हो राम !
फरिगै निबिया लहसि गै डरिया,
तबहू न आए तोर बिदेसिया हो राम !

—इसमें नीम का पेड़ प्रियतम ने किशोरावस्था में लगाया था और रेख भीगते ही परदेश चले गए। नीम फलने लगा और उसकी डाली फलों से झुकने लगी, पर प्रिय नहीं आए—इस चित्र के द्वारा समय का बोध कराना मात्र अभीष्ट नहीं है, बल्कि प्रकृति के क्षेत्र में जो कार्य हुआ और मानवीय प्रेम-व्यापार में जो प्रेम का बिरवा लगाकर भी उसकी सफलता में विलम्ब बना रहा, इन दोनों क्षेत्रों में यह वैषम्य ही अधिक सार्थक रूप में व्यंग्य है। यह विम्ब भी जीवन का सामान्य-सा चित्र है और एक इस चित्र के दर्शन का अभिमान किसी एक सुकृती के मन में नहीं उठ सकता, बल्कि समूची जाति इस विम्ब से एक ही प्रकार का अर्थ निकाल लेती है। कुछ ऐसे भी विम्ब मिलेंगे, जो कि देखने में लोकोत्तर लगेंगे, जैसे पान की तरह पतली सुपारी की तरह ढुरहुरी बहू का सौन्दर्य परिनिष्ठित साहित्य की मर्यादा के अनुसार अलोक-सामान्य ही कहा जाएगा, पर अगर हम ध्यान से देखें तो लगेगा कि पान और सुपारी के साथ मांगलिकता का जो साहचर्य भारतीय लोक-जीवन में है, उसी को लेकर यह विम्ब-विधान प्रस्तुत किया गया है। विम्ब-विधान का अपना अलग वैशिष्ट्य लोक-साहित्य में इस माने में नहीं है कि वह अर्थ की अभिव्यक्ति में परिनिष्ठित साहित्य के विम्बों के बीच कम या अधिक समर्थ है, बल्कि इस माने में है कि वह अधिक लौकिक, निसर्गोद्भूत और संक्षिप्त है। लोक-साहित्य में इसी लिए मालोपमा, सांगरूपक, उत्प्रेक्षावली, अपह्नुति जैसे अलंकार नहीं मिलते।

उपमा मिलेगी तो बहुत सीधी-सादी, पूरी अभिव्यक्ति के अवयव का द्योतन करने के बहाने वह समूची उक्ति को चमका देती है। जैसे इस पूरे गीत में केवल एक उपमा है, जैसे कुम्हार का आंवा भीतर ही भीतर रह-रहकर भभक उठता है, उसी तरह मां का हृदय अपने लड़के लिए रह-रहकर विकल हो उठता है—

कमर में सोहे करधनिया पांव पंजनियां।
ललन दूरी खेलन जनि जाओ ढुंढ़न हम न अउवैं ।। १ ।।
सात विरन की बहिनिया वाप धिया एकै।
हरिजी की परम पियारि ढुंढ़न कैसे अउवै ।। २ ।।
भोर भए भिनसरवा कलेवना की जुनिया।
होइ गै कलेवना की वेर ललन नहिं आए ।। ३ ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंगिया तो फाटे वंदै बंद अंचरा करै कर।
छतिया उठी हहराय ढुंढ़न हम आइनि ।। ४ ।।
सात बिरन की बहिनिया वाप धिया एकै ।
भैया बावू के परम पियारि ढुंढ़न कैसे आइउ ।। ५ ।।
छाड़ेउं मैं सातो विरनवा वाप के नैहर।
छोड़ि दीन्हों हरि की सेजरिया ढुंढ़न हम आइन ।। ६ ।।
जैसे कुम्हार क औवां त भभकि भभकि रहै।
वेटा वैसइ माई क करेजवा त धधकि धधकि रहै ।। ७ ।।

पर इस एक उपमा के भीतर की ज्वाला को ऐसा साकार रूप दिया है कि पूरा रूपक अगर वांधा जाता तो इतना स्पष्ट मार्मिक अर्थ नहीं दे सकता था। जैसे—

एकहि वंसवा के दुइ रे करैली
एक बंसुरी दुइ बांस रे।
एकहि भइया के दुइ रे लरिकवा
एक पुता दुइ धीय रे ।।

—यह भी एक लम्वे गीत की पहली कड़ी है। इसमें केवल यही एक सादृश्य-विम्व है कि जैसे एक बांस के दो करले फूटते हैं, एक से बांसुरी वनती है और दूसरे से लाठी; वैसे ही एक मां से दो सन्तान होती है, एक लड़की वन करके दूसरे के घर खुशी वनकर चली जाती है, दूसरी लड़का वनकर अपने घर की रक्षक वनकर रह जाती है। वांसुरी और लाठी से लड़की और लड़के का जो सादृश्य है, यह साहित्यिक कवि-समय के परे है, क्योंकि यह बाह्य सौन्दर्य में सादृश्य नहीं है, यह भीतरी विशेषता को लोक-कल्पना-गृहीत आकार देने का का प्रयत्न है। कभी-कभी ऐसे विम्व आते हैं, जो ऊपर से वड़े अटपटे लगते हैं, पर उन्हें हम यदि उनके परिसर के आलोक में देखें तो उनकी सरसता समझ सकते हैं। उदाहरण के लिए विवाह का एक गीत है। इस गीत में कन्या, आम, पुत्र और हंस ये चार पदार्थ लिखे गए हैं और इन चारों के साथ घर का आंगन, वाग, द्वार श्रौर रस का तथा धर्म, सेवा, तप और दान का सम्वन्ध जोड़ा गया है। क्यों जोड़ा गया है, इसको समझने के लिए हमें हंस का वास्तविक अर्थ लेकर उसका प्रतीकात्मक अर्थ कन्या का वर लेना होगा, तब हम भारतीय परिवार का वह मांगलिक चित्र मन में ग्रहण कर सकेंगे, जिसे उतारने की कोशिश इस गीत में की गई है—

काहे विनु सून अंगनवां ये बाबा काहे बिनु सून लखराउ।
काहे बिनु सून दुअरवा ये बाबा काहे बिनु पोखरा तोहार ।।
धिया बिनु सून अंगनवां ये बेटी कोइलरि बिनु लखराउ।
पूता बिनु सून दुअरवा ये बेटी हंस बिनु पोखरा हमार ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कैसे के सोहे अंगनवां कैसे सोहे लखराउ।
कैसे के सोहे दुहरवा ये बाबा कैसे सोहै पोखरा तोहार ।।
धरम से ये बेटी उपजिहैं ये बेटी सेवा से आम तैयार रे।
तप देइ बोधव्यों वेटी ये बावा का देइ अमवा के गाछ ।।
का देइ पुनवा समोधव्या ये बाबा देइ हंसा मंझधार।
धन देइ विटिया समोधवै ये वेटी जल देइ समोधौ लखराउ रे ।।
भुइ देइ पुतवा समोधवै ये वेटी अन देइ हंसा मंझधार।
का देखि मोहे जनवसवा ये बाबा का देखि रसना तोहार ।।
का देखि हियरा जुड़ैहै ये वावा का देखि नैना जुड़ाय।
धिया देखि मोहैं जनवसवा ये वेटी अमवा से रसना हमार ।।
पुतवा से हियरा जुड़ैहैं ये बेटी हंसा देखि नैना जुड़ाय ।।

कहीं कहीं यह विम्ब विधान संक्षिप्त होने के कारण वहुत सूक्ष्म है। जैसे—

गहरी नदिया ये हरि जी
अगम बहे राम पनियां
पियवा जै चललै मोरंग देसवा
विहरेला करेजवा…

इसमें अथाह पानी और हृदय के अगम्य दुःख दोनों एकाकार कर दिए गए हैं, पर लगता है जैसे सादृश्य की ओर गीत का कोई संकेत ही नहीं था। जैसे—

राम के भीजै मुकुटवा
लखन सिर पटुका हो राम
मोरी सीता कै भीजै सेनुरवा
लवटि घर आवइ हो राम।

इसमें मुकुट के द्वारा राज्य, दुपट्टे के द्वारा बाहुवल और सिन्दूर के द्वारा सौभाग्य-बल का द्योतन सूक्ष्मता के साथ कराया गया है। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि लोक-साहित्य में विम्ब-विधान के वैशिष्ट्य में ही उसकी प्राणवत्ता है और वह विम्ब ही लोक-जीवन की उदात्ततम आकांक्षाओं से इस तरह एकाकार है कि इनके विना कोई अनुभूति आकार ही नहीं ग्रहण कर पाती।

यह तो हुई उन सामान्य विशेषताओं की बात जो भारतीय लोक-साहित्य के चारों प्रकारों में पाई जा सकती है और इसमें से चाहे केवल एक ही मिले या तीनों मिलें, पर सारवान लोक-साहित्य में इनका रहना व्यस्त या समस्त रूप से जरूरी है। अब हम उन चारों प्रकार की अपनी अलग-अलग विशेषताओं के बारे में संक्षेप में प्रकाश डालना चाहेंगे। जैसा कि ऊपर वतलाया जा चुका है कि लोक-गीत इन चारों प्रकार के साहित्य का सबसे अधिक उत्कृष्ट रूप है। लोक-गीत में इन तीन विशेषताओं के अलावा शिल्प-विधान की दृष्टि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से दो और मुख्य विशेषताएं पाई जाती हैं। एक तो यह कि अवसर या प्रकृति-परिसर के साथ लय और ताल का मेल, दूसरी, वहुत सामान्य परिस्थिति से प्रारम्भ करके भाव की तीव्रता से समाप्ति। जहां तक कि लय और ताल के मेल की विशेषता की बात है वहां हिन्दी-भाषी प्रदेश के जनपदों के लोक-गीतों को सुनने के अनुभव के वल पर हमें यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि लय और ताल की परख जितनी इन गीतों में है, उतनी हमें संस्कृत-साहित्य के बिरले छन्दों में ही मिल सकी है। वैसे यह संगीत-शास्त्र की दृष्टि से भी गहन अन्वेषण का विषय है और इस पर विशद प्रकाश यहां डाला भी नहीं जा सकता, पर मात्र निदर्शन के रूप में कुछ चीज़ों की ओर इशारा किया जा सकता है। सोहर की लय वहुत परिचित लय है। इस लय की विशेषता यह है कि यह मानो प्रसव-वेदना की गहनता लिए चलती है और अन्त में एकदम उत्कर्ष में चढ़कर उल्लास की अभिव्यक्ति करती है। कजली जैसे झूले की गीत में लय पेंग के साथ चढ़ती-उतरती रहती है। जांते के गीत में जांते के चक्कर पूरे होने साथ-साथ 'हे राम' के गीत की कड़ी आकर एक झटके से मोड़ लेती है। विवाह के गीत में शुरू से ही लय उल्लसित रहती है। निराई या रोपनी के गीतों में एक पहटा (पंक्ति) कार्य समाप्त होते ही गीत की कड़ी बदल जाती है और गीत में लय की खींच अपरिमित-सी लक्षित होती है। ताल भी वहीं द्रुत होती है, जहां उमंग की मात्रा अधिक होती है और इसी लिए होली के गीतों में द्रुत कई गुना हो जाता है। वस्तुत: लोक-गीतों ही के शिल्प-विधान के लय और ताल का महत्त्व सबसे अधिक है। और इस क्षेत्र में कार्य यदि शीघ्र नहीं किया गया तो सिनेमा और रेडियो की कृपा से मिले लय और ताल की वम में इस सार्थक लय-ताल के विलुप्त हो जाने की पूरी आशंका उपस्थित है। असली ताल-लय के लोक-गीत की दूसरी अपनी अलग विशेषता जो ऊपर बतलाई गई है, वह वहुत व्यापक न होते हुए भी उत्कृष्ट और लम्बे लोक-गीतों पर ज़रूर लागू है। चित्र ऐसे शुरू होगा कि लगेगा कि इससे तो प्रस्तुत विषय का कोई सम्बन्ध ही नहीं है, पर चित्र के अन्त होते-होते वह विषय ऐसी सघनता और तीव्रता के साथ उपस्थित हो जाएगा कि बस, आगे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाएगी।

लोक-गाथा और लोक-कथा में अन्तर ऊपर बतलाया जा चुका है, पर इन दोनों में अपनी अलग विशिष्टता के रूप में शिल्प-विधान की दृष्टि से अपनी अलग-अलग विशेषता यह है कि लोक-कथा में विमर्श की स्थिति के वाद पुण्य की विजय और पाप की पराजय ज़रूर दिखलाई जाएगी और अन्त में सबका मंगल भी चाहा जाएगा, पर लोक-गाथा में प्राय: एक व्यक्ति या एक प्रसिद्ध मार्मिक घटना के चित्र-नायक की स्मृति दुहराई जाएगी और चाहे नायक का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवन जितना भी करुणान्त क्यों न हुआ हो, पर उसके जीवन से मंगल की प्रेरणा ही ली जाएगी। एक तरह से उसे जातीय उद्गार का प्रतीक मानकर पूजा जाएगा, जैसे बुन्देलखंड में हरदौल की कहानी, भोजपुरी क्षेत्र में गोपी-चन्द की कहानी। लोक-गाथा में इसी लिए चित् के परिशोधन के रूप में करुण-रस का उपयोग हुआ है, जबकि लोक-कथाओं की कहीं भी दुःखान्त बनाने की कोशिश नहीं की गई है। लोक-गाथा में प्राय: जो छन्द व्यवहृत हुए हैं, वे हिंदी के वीर छन्द की ही लय के समीप हैं और उनमें वीच-वीच में आवेश के क्षण आते ही ढोलक की थाप के साथ लय तीव्र हो जाती है और जहां कथा का प्रभाव मन्द है वहां लय में खींच लम्बी रहती है। कथा-प्रवाह में गति आते ही लय फिर से तेज़ हो उठती है। इस तरह से लोक-गाथा और लोक-गीत में लय पर मेल एक सामान्य विशेषता है, पर लोक-गीत में जहां कथा या कोई पात्र प्रधान नहीं रहता, वहां लोक-गाथा में कथा और एक विशिष्ट पात्र बना रहता है। कुछ अर्थ तक जो भेद मुक्तक और प्रवन्ध में है, वही भेद लोक-गीत और लोक-गाथा में है, पर लोक-गाथा को ठीक-ठीक प्रबन्ध भी नहीं कहा जा सकता, वह वस्तुत: एक व्यक्ति के जीवन के एक मार्मिक अंश की भावस्पर्शिनी कहानी है और उसका मुख्य प्रयोजन है उस कहानी के द्वारा लोगों में उत्साह, प्रेम या सेवा का पवित्र आदर्श जगाना। कभी-कभी बड़े उद्धत पात्रों को लेकर भी उनके जीवन के शिव-अंश को सामने रखते हुए कहानी गाथा में ऐसे प्रस्तुत की जाती है कि वे पात्र भी उस अंश में शिव वन जाते है। वस्तुत: लोक-गाथा की परम्परा पुरुष-पूजा की ही एक देन है। लोक-कथा का मुख्य प्रतिपाद्य मनोरंजन है, उसमें कथा का कौतुक बनाए रखने का जितना बल होता, उतना रस-परिपाक पर नहीं। हां, परिस्थितियों का चित्रण जिन विम्बों के सहारे किया जाता है, वे बिम्ब बड़े सजीव होते हैं। उच्छल हास्य का सबसे उत्कृष्ट रूप लोक-कथा में गुम्फित मिलता है और उस हास्य का प्रयोजन कथा में बीच-बीच में राहत लाना होता है। साथ ही जीवन, दर्शन और इतिहास के निगूढ़-तम तत्त्वों को भी ऐसी सादगी में इनमें उतार दिया जाता है कि कथा-प्रवाह के साथ ही साथ ये तत्त्व मन में अपने-आप तिरते चले आते हैं। उदाहरण के लिए हथिया की कहानी लीजिए। इसमें ऋपि की अपूर्व कल्पना, कालिदास का कुमारसम्भव और महाभारत-युद्ध के प्रयोजन, ये सभी बातें एक साथ ऐसी गुंथ कर जुड़ी हैं कि भीतरी अर्थ में बैठने पर बहुत विस्मय होता है कि कैसे इसको परस्पर सम्बद्ध करके एक अद्भुत कथानक बना लिया गया है। संक्षेप में हम यदि यह कहना चाहें तो कह सकते हैं कि लोक-कथा में शिल्प का मर्म है, कथा की कुतूहलवर्धकता है। अन्त में लोक-नाट्य की अपनी अलग विशिष्टता की चर्चा हमें करनी है। लोक-नाट्य का उद्देश्य भी मनोरंजन ही होता है।

प—४

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोक-गीत और लोक-गाथा की तरह उदात्तीकरण या तन्मयीकरण नहीं, पर दृश्य गुण जुड़ने के कारण इसमें प्रभावोत्पादकता आपातत: आ ही जाती है। रंगमंच के विना ही ये खेले जाते हैं और केवल वाचिक और आहार्य अभिनय के बल पर सामयिक समस्याओं पर विशेष बल देते हुए जीवन का चित्र उपस्थित किया जाता है। लोक-गाथा ही की तरह इसमें भी हास्य एक प्रमुख अस्त्र है और यहां हास्य अधिक सामयिक होने के कारण सतही होता है। जहां कहीं लोक-नाट्य में गीतों का आश्रय लिया जाता है, वहां भाव की गहनता से अधिक कथोपकथन का चमत्कार ही अधिक प्रयोज्य रहता है। लोगों ने वैसे लोक-नाटय को लोकसंस्कृति की अभिव्यंजना का बहुत शक्तिशाली माध्यम बतलाया है; पर हमारी दृष्टि से लोक-नाट्य बहुत अंशों तक छिछली रुचि का ही प्रतिविम्व है। लोक-साहित्य के अन्य तीन प्रकारों के भेदों की तरह यह शिव का प्रतिष्ठापक नहीं है और इसी लिए इसका शिल्प-विधान भी बहुत कमज़ोर है।

इस संक्षिप्त विवेचन के अन्तर हम अन्त में केवल एक चीज़ और जोड़ना चाहेंगे कि लोक-साहित्य की पहचान कराने वाला शिल्प-विधान अचेतन व्यापार नहीं है। यह ऐसी सामूहिक चेतना का परिणाम है, जो प्रबुद्ध होते हुए भी निरभिमान है,। इसी से इस शिल्प-विधान में प्रयत्नकृत होने का आभाम नहीं मिलता, यद्यपि इसके पीछे प्रयत्न हुआ नहीं है, यह कहना इस शिल्प-विधान के सौन्दर्य के साथ अन्याय करना होगा। अस्तु, प्रयत्न इतने बार इतने लोगों द्वारा हुआ है कि उनका लेखा-जोखा देना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है और इतने अधिक प्रयत्नों के कारण ही उसमें यह निखार आ गया है कि प्रयत्न ऊपर से परिलक्षित नहीं होता। पर जैसे अपने जीवन के व्यवहार में अपनी संस्कृति को कोई जाति प्रकट किए विना नहीं रह सकती, उसी तरह अपने साहित्य में भी वह अपने संस्कृति को किसी न किसी रूप में व्यक्त किए विना नहीं रह सकता और संस्कृत अर्जित वस्तु नहीं है, इससे तो इन्कार वही करेगा जिसे शास्त्र का प्रारम्भिक ज्ञान न हो। जिस शिल्प-विधान की बात हमने ऊपर की है, वह शिल्प-विधान लोक-व्यापी जीवन के धरातल पर संस्कृति की भाव-व्यंजना ही है। हां उसकी ढलाई ऐसी आंच में हुई है कि उसमें कहीं भी विरूपता नहीं दीखती। भारतीय लोक-साहित्य की पहचान इस दृष्टि से की जाए तो न केवल उस साहित्य के रसास्वाद में सहायता मिलेगी, बल्कि भारतीय जन को भी समझने में और उस भीतरी राग-बोध की गहराई नापने में भी सहायता मिलेगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

८

तकनीक और आदमी

तकनीकी विकास एक ऐसे उत्कर्ष के कगार पर पहुंच चुका है, जब आदमी सोचने के लिए विवश हो गया है, कि तकनीकी विकास रोका जाए, या यदि रोक सकने की वेला बीत गई हो तो उसे ऐसा मोड़ दिया जाए कि वह आदमी के विनाश का कारण न बनकर आदमी के सार्थक अस्तित्व का साधन बन सके। इसी लिए तकनीकी विकास के उपलब्धियों की दृष्टि से ही न देखकर, इसके पूरे संदर्भ को देखने की आवश्यकता आज जितनी तीव्र हो गई है, उतनी पहले कभी नहीं हुई थी।

कुछ लोग तकनीकी विकास को आदमी के लिए अस्वाभाविक मानते हैं; पर सही बात यह है कि वह जितना स्वाभाविक है उतना ही अस्वाभाविक भी है। यदि आज वस्त्र हमारे लिए स्वाभाविक हैं, तो कल संगणक-यंत्र (कंप्यूटर) भी स्वाभाविक हो सकता है। इस प्रकार का वक्तव्य कि यह चीज़ आदमी के लिए स्वाभाविक है या नहीं, आदमी के इतिहास के संदर्भ से ही दिया जा सकता है। क्योंकि कोई भी चीज़ सार्वदेशिक, शाश्वत और निरपेक्ष रूप में स्वाभाविक या अस्वाभाविक नहीं होती। एक औसत हिंदुस्तानी के लिए उंगली चटकाना और पालथी मारकर बैठना अत्यंत स्वाभाविक है, परन्तु ये ही चेष्टाएं एक अमरीकी के लिए कठिन और प्रयत्न-साध्य हैं।

तकनीकी विकास के बारे में दूसरा प्रश्न यह उठता है कि इसका सिलसिला एक-सा बना रहता है, या बीच-बीच में टूटता भी रहता है। इस सवाल का भी जवाब इतिहास से ही मिलता है कि सिलसिला बना भी रहा और बीच-बीच में एक विशेष दिशा में विकास उत्कर्ष पर पहुंच कर छोड़ भी दिया गया है। उदाहरण के लिए जब किसी मशीन का आविष्कार होता है, तो उसमें बड़ी तेज़ी से एक के बाद दूसरे सुधार होते जाते हैं; पर जब मशीन अपने लगभग पूर्ण रूप में विकसित हो चुकती है तो सुधार की गति मंद पड़ जाती है और तब उसकी जगह नई मशीन की आवश्यकता पड़ने लगती है। नई मशीन के आते ही पुरानी मशीन बेकार पड़ने लगती है और तब उसका केवल ऐतिहासिक मूल्य रह जाता है। यदि सिलसिले के इस प्रकार टूटने की बात बीच-बीच में न आए, तो निश्चय ही यह पृथ्वी कूड़ाखाने में परिवर्तित हो जाए। सिलसिला यदि बना रहता है, तो आवश्यकताओं के अनुसार आविष्कार करने की क्षमता के ही कारण और नई परिस्थितियों की पहचान से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपनी आवश्यकता को जोड़ने के कारण।

तकनीकी विकास के संबंध में एक तीसरा प्रश्न यह उठाया जाता है कि क्या सभ्यता का विकास और तकनीकी विकास नियत रूप से एक साथ होते हैं; अर्थात् क्या तकनीकी विकास के परिणाम और उत्कर्ष नापे जाने चाहिए ? यहां हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि बहुत-सी महान् सभ्यताएं तकनीकी विकास को हिकारत की नज़र से देखती रही हैं, इसलिए नहीं कि उनमें तकनीकी विकास की क्षमता नहीं थी, वरन् इसलिए कि तकनीकी विकास में लगे हुए लोगों को उन संस्कृतियों में बहुत ग्रादर की दृष्टि से नहीं देखा जाता था, तकनीकी कौशल जीवन का ऊंचा लक्ष्य नहीं माना जाता था। प्राय: तकनीकी विकास सभ्यता का मुख्य लक्ष्य न रहकर लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते समय अपने-ग्राप रास्ते में आई हुई उपलब्धि रही है। यह बात प्राचीन ग्रीक सभ्यता और भारतीय वैदिक सभ्यता, दोनों में रही है। शिल्पी का दर्जा दोनों जगह ऊंचा नहीं रहा और न नई तकनीकी उपलब्धि को तत्त्व चिन्तन से अधिक महत्त्व दिया गया।

अब स्थिति कुछ भिन्न अवश्य है, क्योंकि तकनीकी विकास आज विकासशील देशों का चरम लक्ष्य बन गया है और तकनीकी विकास को ग्रपने-आप में एक प्रतिष्ठागत मूल्य मिल गया है। ठीक उसी तरह, जिस तरह एक खास किस्म की वेशभूषा को पुराने राजदरबारों में प्रतिष्ठा-मूल्य मिला हुआ था, और राजा से लेकर खिदमतगार तक हज़ार तकलीफ महसूस करके भी उस वेशभूषा में उबलने के लिए लाचार था। विकसित देशों के साथ विकासशील देशों के सामने प्रतिस्पर्धा की लाचारी इसलिए भी और तीव्र हो गई है कि उनकी क्षमता विकास की मात्रा से, विकास के गुण से मापी जाने लगती है। क्षमता के इस प्रकार के मानदंड में यह सोचने की ज़रूरत नहीं मालूम होती कि जिन वस्तुओं का उत्पादन किया जा रहा है, वे वस्तुएं आवश्यक हैं भी या नहीं, ग्रौर यदि वे वस्तुएं उपभोग में नहीं आएंगी, तो उनके निस्तारण की कोई व्यवस्था हो सकती है, या नहीं।

कुछ समय पूर्व स्टाकहोम में मानव-परिवेश की समस्याग्रों पर विचार करने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया था। उसमें भारत का प्रतिनिधित्व भारत की प्रधानमंत्री ने किया था। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि क्षमता के इस मान दंड के लिए बड़ी महंगी कीमत हमें अदा करनी पड़ रही है। वस्तुत: क्षमता का वह मान-दंड, जो केवल उपभोग की वस्तुएं लोगों पर लादने की स्थिति लाता ही ग्रौर केवल उत्पादक के लाभ की ही चिन्ता करता हो, मनुष्य के प्रमुख लक्ष्य को छोटा कर देता है। आज लाभ का लक्ष्य, चाहे व्यष्टि का हो, चाहे समष्टि का हो, सब लक्ष्यों के ऊपर हावी हो गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार अपने या अपने देश के स्वार्थ के लिए अधिक से अधिक संपृक्तता मनुष्य के संकट का कारण बन गयी है। मनुष्य का परिवेश आज अंधाधुंध तकनीकी विकास के कारण दूषित हो गया है।

प्रधानमंत्री ने इस आशंका का उल्लेख किया कि पर्यावरण-प्रदूषण पर चर्चा का मकसद कभी-कभी युद्ध और गरीबी की समस्याओं से लोगों का ध्यान बंटाना भी होता है, इसलिए उन्होंने कहा कि दुनिया के वंचित समुदाय के समक्ष हमें यह सिद्ध करना होगा कि पर्यावरण-संरक्षण का काम उनके हितों के विरुद्ध नहीं जाएगा, बल्कि इससे उनका जीवन सुधरेगा। यदि तकनीक का मानवीय उद्देश्य से विनियोग किया जाए, तो यह सर्वथा संभव है कि वातावरण की शुद्धता सुरक्षित रखते हुए भी मनुष्य तकनीकी विकास कर सकेगा और विकासशील देशों को तकनीकी ज्ञान से वंचित रखने की न तो आवश्यकता है और न उन्हें वंचित रखना किसी के लिए साध्य है। उन्हें तकनीकी विकास की सोद्देश्यता की पहचान कराना अलबत्ता आवश्यक है।

भारत की प्रधानमंत्री के इस वक्तव्य का दूसरे शब्दों में अर्थ यह है कि भारत जैसे देश, जो तकनीकी विकास की अभी नीचे की ही मंज़िल पर हैं, लाभ से प्रेरित अनावश्यक उत्पादन के खतरों से बचते हुए और तकनीकी विकास में जो कुछ कचरा निकलता है, उसके निस्तारण की पहले से ही सुनियोजित व्यवस्था करते हुए, समूची मानवता के हित को ध्यान में रख कर तकनीकी विकास की ओर अधिक सार्थक कदम उठा सकते हैं और दूसरे विकासशील देशों के लिए मार्ग भी प्रशस्त कर सकते हैं।

जिस प्रकार यूरोप में नदियां धीरे-धीरे मृत्यु को प्राप्त हो गई हैं, उनका पानी पीने योग्य नहीं रहा, मछलियां जीवित नहीं रहीं—इसके लिए कारखानों का (विशेष रूप से ऐसे कारखानों का—जो प्लास्टिक, रेयान, या कीटाणु-नाशक पदार्थों का उत्पादन करते हैं) कचरा, जो नदियों के जल को दूषित करता है, सबसे ज़्यादा ज़िम्मेदार है। इसी प्रकार नाइट्रेट उर्वरक जब वर्षा से घुलकर नदी में पहुंचते हैं, तो नदी का जल अपनी आक्सीज़न खोने लगता है और यह अवस्था अपनी चरम बिंदु पर पहुंचकर उस जल में पलनेवाले जीवों के लिए घातक हो सकती है और नदी अपने आसपास के आदमी की जीवन-धारा नहीं रह जाती। इस स्थिति का इलाज, कोई सरल इलाज, आज संभव नहीं है। यह संभव नहीं है कि कारखाने बंद कर दिए जाएं और आदमी खेती के पुराने तरीकों की ओर लौट जाए, क्योंकि कारखानों को बंद करने का प्रभाव आदमी की रोज़ी-रोटी पर पड़ता है। खेती के नये उर्व-रकों के प्रयोग के परित्याग करने का अर्थ बढ़ती हुई जनसंख्या को भूखों मारना होगा। यह संभव भी नहीं है कि कचरों के निस्तार की व्यवस्था किए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विना तकनीकी विकास की रफ्तार तेज़ की जाये। न तो प्रकृति से भागा जा सकता है और न प्रकृति में भागा जा सकता है। प्रकृति को न तो विजेय रूप में देखा जा सकता है और न आराध्य रूप में। यह पश्चिम के विज्ञान का दोष नहीं कि उसने प्रकृति को विजेय माना, यह दोष उस चिंतन का है, जिसने मनुष्य को पार्थिव सृष्टि का उपभोक्ता माना। उपभोक्ता मानने की दृष्टि ने ही दो प्रकार के अतिरेकवादी समाधान प्रस्तुत किए हैं—एक तो हिप्पियों का 'फ्लू-पंथ' है, जिसकी धार एक दशक के भीतर ही मर चुकी है। दूसरा, उच्च-ऊर्जा-व्यवस्था (हाइ एनर्जी सिस्टम) के उपयोग के द्वारा न केवल यंत्र को मनुष्य के ऊपर हावी बना देना, बल्कि मनुष्य की प्रत्येक आकांक्षा को यांत्रिक बना देना।

इन दोनों अतिरेकों के अलावा एक तीसरा समाधान भी खोजा जा सकता है (कम से कम इस प्रकार की खोज का ऐतिहासिक लक्ष्य हमारे सामने है) पूर्वी चिंतन ने—चाहे वह जापान का हो, चाहे चीन का या भारत का—विज्ञान के अविरोधी मानव-विकास का एक समाधान यह भी निकाला है कि प्रकृति मनुष्य से अलग नहीं, मनुष्य यदि प्रकृत अवस्था में कुछ संस्कार करता है, तो वह संस्कार भी प्रकृति का अंग बनता जाता है, बशर्ते कि संस्कार लाने की गति में प्रकृति द्वारा अपनाने की गति में एक तालमेल स्थापित होता चले। जिस प्रकार आज आदमी का केश-विन्यास, आदमी की वेशभूषा प्रकृत हो चुकी है, एक प्रकार से उसके लिए सहज हो चुकी है, उसी प्रकार यह भी संभव है कि आदमी के यंत्र भी सहज हो जाएं। किन्तु यदि यंत्र आदमी का स्थान ले ले, और यंत्र आदमी के प्राकृतिक परिवेश को विस्थापित कर दे तो ऐसा मंत्र आदमी के ऊपर दबाव ही वनकर रहेगा। वह न तोआदमी के जीवन का स्वाभाविक अंग हो सकता है, न प्रकृति के द्वारा अंगीकार्य हो सकता है।

आज का वास्तविक संकट यंत्र के आविष्कार की तेज़ी का संकट नहीं, बल्कि मनुष्य के विवेक के पराभव का संकट है। मनुष्य जब यह नहीं सोच पाता कि नया यंत्र क्यों और किसके लिए बनाया जा रहा है और इसके आविष्कार से मनुष्य का अपना कितना दूरगामी लगाव हो सकता है, तो उसके सामने यंत्र साधन न रहकर साध्य वन जाता है और यंत्र के साध्य होते ही मनुष्य 'स्व' से एकदम कटने लगता है। धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आ जाती है कि आदमी यंत्र-जगत् को ही अपना 'स्व' मानने लगता है। और यदि किसी सूराख से उसे 'स्व' की झांकी दिखाई भी देती है, तो उसे भीतर से बड़ी घबराहट होने लगती है और वह उस सूराख को बंद करने की कोशिश करने लगता है। पश्चिम के यांत्रिक जीवन के घेरे में मनोविनोद की तलाश भी किस प्रकार यांत्रिक हो गई है और किस प्रकार यांत्रिक मनोविनोद से दूना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तनाव पाकर आदमी नशीली गोलियों का यंत्रवत् ढंग से उपयोग करके अपनी अपरूप पहचान प्राप्त कर रहा है, वह सूराख को बंद करने की बचकानी कोशिश ही तो है।

विवेक का पराभव केवल अपनी पहचान से भागने में जितना है, उससे ज्यादा पराभव झूठे विवेक का इंद्रजाल बुनने में है, अनियंत्रित तकनीकी विकास को गलत तर्कों से अपरिहार्य और उचित ठहराने में है। उदाहरण के लिए, जब कोई यह तर्क देता है कि कारखाने में पैदा किया जानेवाला माल एक स्तर का हो, यह तकनीकी विकास का एक लक्ष्य है और यह लक्ष्य जनतंत्र के समतावादी लक्ष्य की पूर्ति करता है, तो क्या इससे ठीक उल्टी बात नहीं साबित होती ? जनतंत्र का अर्थ होता है विभिन्न रुचियों के लिए समुचित अवसर देना—और स्तरों का मानकीकरण जनतंत्र की इसी आकांक्षा पर प्रहार करता है। इसी प्रकार जब यह तर्क दिया जाता है कि तकनीकी विकास बूर्जुआ दिमाग की उपज होते हुए भी बुर्जुआ समाज के ही न नाश का कारण बनने की क्षमता रखता है। इसलिए वह सर्वहारा समाज के अभ्युदय का वास्तविक कारण है—तो यह भुला दिया जाता है कि तकनीकी समाज जितना बूर्जुआ समाज को मारता है, उससे कहीं ज्यादा सर्वहारा समाज को ही मारता है। कारण, जहां बूर्जुआ समाज तकनीकी विकास को जन्म दे कर इतना लोभी बन जाता है कि इसका लोभ ही उसकी मृत्यु बन जाती है, वहां सर्वहारा समाज अपनी आर्थिक व्यवस्था में तकनीकी विकास के योगदान से इतना अभिभूत हो जाता है कि वह अर्थ के अलावा और कुछ सोच ही नहीं सकता। उसके लिए आदमी का जीवन केवल वस्तुओं के उपयोग से एकाकार हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि रोटी-कपड़े की न्यूनतम आवश्यकता पूरी करनेवाले समाज में भी उपयोग की सामग्री के दुकान में आने की खबर पाते ही एक अंधी भूख उमड़ पड़ती है। वह भूख यह नहीं देखती कि क्या चीज़ उसे चाहिए और जो सामान उसे मिल जाता है वह उस भूख को तत्काल फुसलाने के लिए पर्याप्त हो जाता है। किंतु भूख का नशा एक बार सवार हो जाने पर कभी तृप्ति नहीं मिलती; और सामान्य सुविधाओं से लाभान्वित सर्वहारा समाज भी, इस भूख के कारण, आदमी की गुलामी से भी बदतर एक निराकार गुलामी का शिकार हो जाता है।

दूसरी ओर, पूंजीवादी व्यवस्था में जब यह तर्क दिया जाता है कि तकनीकी विकास ने यह संभव कर दिया है कि कपड़ा धोनेवाला भी चमचमाती हुई वैसी लंबी मोटरगाड़ी का प्रयोग कर सकता है, जैसी गाड़ी बड़े-से-बड़े पूंजीपति के पास है या बड़े-से-बड़े सरकारी अधिकारी के पास, तो तुरन्त यह सवाल उठता है कि क्या एक प्रकार की मोटर की सुलभता एक चौड़ी होती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हुई खाई के ऊपर खड़ा किया गया कुहरे का पुल नहीं है। क्या यह सही नहीं है कि आदमी की पहचान आदमियत न होकर अधिक-से-अधिक यांत्रिक सुविधा और अधिक-से-अधिक मनुष्य के ऐंद्रिय अनुभव से कटाव नहीं है? संगीत का संगणक द्वारा प्रस्तुतीकरण या शतरंज का संगणक की सहायता से अभ्यास मानवीय बुद्धि का कितना भी बड़ा चमत्कार क्यों न हो, आदमी की आमने-सामने उपस्थिति से उत्पन्न होने वाली ऊष्मा का मूल्य चुकाकर ही यदि संभव होता है तो यह सोचना पड़ता है कि यह चमत्कारिक उपलब्धि काम्य भी है या नहीं। क्या यह मूल्य चुकाने के बाद भी आदमी अपनी ज़िंदगी में अर्थ पा सकता है? यदि नहीं, तो फिर चमत्कार के लिए चमत्कार पर बल देना विवेक का पराभव ही तो माना जाएगा।

इसी प्रकार कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि विकास ने आदमी और आदमी के बीच की दूरियां कम की हैं। हज़ारों मील दूर अपने प्रियजन की न केवल आवाज़ सुनना, बल्कि उसकी सूरत भी देखना संभव हो गया है और इस प्रकार के साधनों का बड़े पैमाने पर उत्पादन भी निकट भविष्य में संभाव्य है। यही नहीं, परिवार के जो सदस्य तफरीह के लिए मनोरंजन की अलग-अलग तलाश में एक-दूसरे से कटाव अनुभव करने लगते थे, उसका समाधान टेलिविज़न ने कर दिया है और परिवार के किसी भी सदस्य को मनोरंजन के लिए बाहर जाने की ज़रूरत नहीं। एक साथ घर बैठे-बैठे वे तफरीह भी ले सकते हैं और परिवार को बिखराव और टूटन से बचा भी सकते हैं। ऐसे लोग बचकाने मोह के शिकार जान पड़ते हैं, क्योंकि यह हर किसी को मालूम है कि जब यंत्र आदमी और आदमी के बीच में मध्यस्थता का काम करता है, तो वह चाहे कितना भी प्रभावशाली क्यों न हो, वह आदमी और आदमी के बीच में एक गैर-आदमियत के शून्य का अन्तराल भी अपरिहार्य रूप से भर देता है। जो लोग एक साथ सटकर बैठे टेलिविज़न देखते हैं, उन सबकी आंखें टेलिविज़न पर केंद्रित होती हैं, और एक साथ सटकर बैठे हुए लोग भी एक-दूसरे से तब तक अलग रहते हैं, जब तक कि टेलिविज़न बंद नहीं कर दिया जाता है।

सही बात तो यह है कि तकनीकी विकास के इस अमानवीय पहलू की ओर आदमी का ध्यान जाता तो है और वह आतंकित भी होता है, पर तकनीकी विकास के प्रति अपने अपराध-बोध को छिपाने के लिए (वह भी इसलिए कि किसी भी आदमी के करिश्मे को अपना मानने का अहंकार उसे तकनीकी विज्ञापनों की कृपा से इतनी जल्दी हो जाता है कि वह अपने को किसी भी तकनीकी विकास के करिश्मे के कर्तृत्व से अलग नहीं रख सकता) वह एक भ्रामक सक्रियता के नशे में अपने को गर्क कर लेता है। यह भी एक प्रकार से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वास्तविकता से पलायन ही है। एक बात तकनीकी विकास के पक्ष में ज़रूर कही जा सकती है कि उसने किसी भी राजनीतिक व्यवस्था में कोई अर्थ नहीं रहने दिया है। एक प्रकार से राजनीतिक व्यवस्था भी नवीनीकरण की प्रक्रिया में आकर अपने-आप में एक विकसित तकनीक बन जाती है। इस प्रकार यदि :

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ,
जगत तपोवन सों कियो, दीरघ दाघ निदाघ।

सबके लिए समान रूप से संतापकारी परिस्थिति लाकर सबको एक जगह खड़ा करना ही यदि मानव-विकास का चरम लक्ष्य हो, तो तकनीकीकरण उस ओर अग्रसर है, यह गर्व किया जा सकता है (यदि उस गर्व के कुछ अर्थ हों)।

अब प्रश्न यह उठता है कि तकनीक को एक बार साध्य बना लेने पर उसे क्या साधन बनाया जा सकता है ? एक बार यंत्र-राक्षस गढ़ लिए गए, तो क्या फिर यह संभव है कि वे मनुष्य के मूल्यबोध से (जो निश्चय ही यांत्रिकता में नहीं बंध सकता है) शामिल हो सकें ? दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि जब तकनीकी विकास शक्ति और प्रतिष्ठा का मानदण्ड हो, उस विकास तक न पहुंचा हुआ समझदार आदमी या देश भी क्या उसके ऊपर नियंत्रण कर सकता है ? जब हर तरह से नियंत्रण की बात तकनीकी विकास में आगे बढ़े हुए देश और उस देश के भी आगे बढ़े हुए तकनीकी विकास के महाप्रकृतिमेध के पुरोधा तकनीकी विशेषज्ञ ही सोच सकते हैं, तब विकास की निचली सीढ़ी वाला देश सिवा आगे वाले के कदम देखने के कर ही क्या सकता है।

यहां तो तकनीक विकास के शिखर पर पहुंचे लोगों पर ही अधिक दायित्व है कि वे विज्ञान से मानव-मूल्य की अपेक्षा करें। मूल्यबोध से अपने को अलग करके विज्ञान रहस्य-भेदन तो कर लेगा, पर रहस्य को समग्र रूप में देखने का सुख और अपने को उससे जोड़ने का सुख न पा सकेगा। आशा की एक किरण जरूर है कि पश्चिम के कुछ विचारक धीरे-धीरे अनुभव करने लगे हैं कि खतरे की घंटी बज चुकी है और अब जहां हम पहुंच चुके हैं, वहां से यंत्रहीन प्रकृत जीवन में लौटना संभव नहीं है, यंत्र के साथ जीने का रास्ता ढूंढ़ना एकमात्र विकल्प रह गया है।

आज तकनीकी विकास के लाभ के सभी समान रूप से साझीदार न हों, किंतु उसकी हानि में छोटे-बड़े सब शरीक हैं। प्रदूषण की जो समस्या यूरोप या अमरीका में है, वही समस्या हिंदुस्तान में भी है—वही समस्या तेल पैदा करनेवाले फारस की खाड़ी के देशों में भी है। यूरोप के देशों में उस समस्या की जानकारी है और उससे निबटने के लिए कुछ तैयारी भी। दूसरे देशों में जानकारी कम है, और जानकारी हो भी, तो समस्या से निबटने के न उतने साधन ही हैं और न निबटने की हिम्मत ही, क्योंकि वे खतरा मोल ले कर भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विकसित होना चाहते हैं। इसलिए जब तक विकसित और अविकसित दोनों प्रकार के देशों के लोग तकनीकी विकास से उत्पन्न होनेवाले संकट के समाधान के लिए एक देश के रूप में सोचने के लिए नहीं तैयार होते; और जब तक वे स्वयं अपने उत्पादनों को मानवीय अपेक्षा से जोड़कर नियंत्रित करने का साहस नहीं करते, तब तक इस समस्या के बारे में सारी बातचीत बातचीत ही रहेगी—वह गम गलत करने का एक सस्ता नुसखा ही बनी रहेगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

९

आज के भारत की सांस्कृतिक विपन्नता

"बहुत सारे ऐसे थे जो अपने को समाजवादी कहते थे। कुछ महत्त्वाकांक्षावश नहीं, क्योंकि उनकी महत्त्वाकांक्षा झटपट लूटकर चलता होने और फिर चुनाव जीतने के आगे जा ही नहीं सकती थी। वे स्वांग भरते थे, कि नयी समाज-व्यवस्था के हम निर्माता हैं। शायद कभी एक समय रहा हो जब उनमें से कुछ ने नयी समाज-व्यवस्था में आस्था रखी हो और इसके लिए संकल्प भी लिया हो, पर बाद में वे बस आस्था और संकल्प का नया-नया बानक ही धारण करते रहे। सच तो यह है कि वे म्रियमाण समाज-व्यवस्था से जो कुछ भी छीन-झपटकर लिया जा सकता है, उसी पर अपनी ज़िन्दगी बसारने के सिवा कुछ सोच ही नहीं सकते थे···

"यह नहीं कि वे होशियार नहीं थे, वे भली भांति जानते थे कि उन्हें क्या करना चाहिए था, पर उन्होंने वह सब कुछ नहीं किया, क्योंकि वह प्रयत्न-साध्य था और वे प्रयत्न कर नहीं सकते थे। बस, एक ध्येय ऊपर से नीचे तक हरएक आदमी के सामने था—कम से कम प्रयत्न से किस प्रकार अधिक से अधिक सुख-सुविधा प्राप्त की जाए। यही उनकी चरम नैतिकता थी (यदि इसे नैतिक कहा जाए) पर इसके सिवा राजनीतिक रमझल्ला में कोई दूसरा मार्ग-दर्शक भी नहीं था। राजनीतिक रमझल्ला ऐसा था कि स्वयं राजनेता अराजकता के लिए आदर्श प्रस्तुत करते थे और विरोधी राजनेताओं के अनुशासनहीन झुंड एक साथ दस-दस खरगोशों का पीछा करते थे। फलतः हर एक खरगोश निकल भागता था और शिकारी झुंडों के मुंह में केवल झाग भर आता था, किसी भी शिकार का स्पर्श नहीं मिलता था। ऐसे में कम से कम प्रयत्न के द्वारा अधिक से अधिक लाभ का सिद्धान्त ही सबसे अधिक सफल होता ही, और यही नैतिक भी होता, क्योंकि यहीं एक ठहराव का बिन्दु सबको मिलता।···राजनीतिक मनोबल इतना गिर गया था कि हर आदमी राज्य से यह आशा लगाये रहता था कि उसे पद मिले, रुपया मिले पेंशन मिले, छूट मिले, न कुछ मिले तो मुफ्त यात्रा की सुविधा ही मिले और सरकार भी अपने समर्थकों की मांग भरसक पूरी करती थी। सत्ताधारियों के भाई-भतीजों, रिश्तेदारों और झंडा-बरदारों के ही बांट में सरकारी पद, सम्मान और पेंशन आ सकते थे, चुने हुए जन प्रतिनिधि हमेशा अपनी तनख्वाह बढ़वाने के लिए सर्वसम्मति से वोट देने के लिए तत्पर रहते थे। और ऊपर के लोगों की इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लूट मनोवृत्ति की एक खौफनाक गूंज निचले तबके के और असहाय सत्ताहीन लोगों के आचरण में ध्वनित हो रही थी—वे लूट नहीं सकते थे तो हड़ताल, विध्वंस और कामचोरी के द्वारा राष्ट्रीय सम्पत्ति का विनाश कर रहे थे। और इन सारी भयावह स्थितियों से कहीं अधिक भयावह स्थिति पैदा कर रहे थे बुद्धिजीवी, जो इस परिस्थिति का ज़ायका ले रहे थे और यह फतवा दे रहे थे कि यह राष्ट्रीय आत्मघात बुद्धि और न्याय के लिए लड़ी गई लड़ाई का ही एक स्वरूप है, हर आदमी को अपने हिसाब से सुखी होने का पवित्र अधिकार है और उस अधिकार की ही अभिव्यक्ति के रूप में देखकर हम इस आत्मघात को भी नियतभावी परिणाम मानकर सन्तोष करते हैं और इसमें कोई चिन्ता की वात नहीं पाते।"

रोम्यां रोलां ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'ज्यां क्रिस्तोफ' में उन्नीसवीं सदी के अंत के फ्रांस का चित्र उपस्थिति करते हुए ऊपर की पंक्तियां लिखी हैं। आज से सौ वर्ष बाद अगर कोई आज के हिन्दुस्तान की सही तस्वीर खींचेगा, तो ये पंक्तियां उसके काम आएंगी। फ्रांस जिस प्रकार स्वाधीनता के नशे में डूबकर सांस्कृतिक दृष्टि से विपन्नता को प्राप्त हुआ था, ठीक उसी तरह हम स्वाधीनता के नशे में गर्क हैं। कहीं व्यक्ति हो या समाज हो, जीवन में कोई ताल-मेल नहीं है, कोई सामंजस्य नहीं है, कोई अन्विति नहीं है, किसी अभिप्राय की तलाश नहीं है, कहीं भी संलग्नता नहीं है। न चेतना की कमी है, न कौशल की, पर ज़िन्दगी केवल सुलग रही है—जीने की इच्छा कीड़े की तरह बस कुलबुला रही है। हम बेखबर हों, ऐसा भी नहीं; हम देख रहे हैं, हम जान रहे हैं कि एक सड़ांध बाहर और भीतर फैल रही है, हम यह भी जानते हैं कि ये उपाय किए जाएं तो यह सड़ांध दूर हो सकती है, पर हम लाचार हैं। उन उपायों का जोखिम हम उठाने में असमर्थ हैं।

यह कहकर सन्तोष किया जाए कि यह तो विश्वव्यापी समकालीन मानवीय संकट की छाया है, जो हमारे ऊपर भी गरज रही है, इतनी तेज़ी से परिवर्तन हो रहा है···इतनी तेज़ी से शत्रु मित्र बन रहे हैं और मित्र शत्रु कि मित्र-शत्रु की पहचान कठिन हो गयी है और कार्ल या स्पर्स के शब्दों में, हम यही नहीं जानते कि हमारा मोर्चा किसके खिलाफ है, बस इतना जानते हैं कि हम जूझ रहे हैं कारण यह है कि हम लोगों में अपने को परिवर्तनों के आवर्तों में झोंकने की हिम्मत नहीं है, इसी लिए उन परिवर्तनों से घटित होते वाले अनुभवों के हम न साक्षी हो सकते हैं, उनके साझीदार होने की बात तो निहायत बेईमानी है। हिन्दुस्तान की सांस्कृतिक विपन्नता अपने में बेमिसाल है क्योंकि वह कायरता और बहादुरी की एक दोगली सन्तान है—कायरता रोशनी का सामना करने में और बहादुरी अपने ही खिलाफ जेहाद बोलने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में। हम एक ओर हर निश्चय से घबराते हैं, इसलिए हर मोड़ के देवस्थान पर माथा टेकते हैं, बड़े से बड़े नास्तिक ज्योतिषी के आगे हाथ पसारते हैं, उर्स में जाकर सिर पर सहारा बंधवाते हैं, औघड़ों की भभूत के लिए हवाई जहाज से यात्रा करते हैं. हर नये रास्ते की खूबियों (ज़ाहिर है ऐसे लोगों की नज़र खूबियों के नाम पर तड़क-भड़क यानी भीतर की कमज़ोरी की नकावों पर ही ज्यादा पड़ती है और उन्हीं को ऐसे लोग खूवी मान लेते हैं) की तारीफ करते हैं, उन्हें अपनी ज़िन्दगी में उतारने की भोंड़ी कोशिश करते हैं और इनको उतारते समय इनका खोखलापन महसूस करके भी इन्हें उठाकर फेंकने का साहस नहीं कर सकते (कहीं कोई रूढ़िवादी न कह बैठे); दूसरी ओर हम बिना सोचे-समझे अपने निजी तौर-तरीकें पर मौके-वेमौके आक्रमण करते रहते हैं, अपनी भीतरी अच्छाई की अवज्ञा करते रहते हैं और अपने देश की वास्तविक शक्ति से अपरिचय का, स्वांग भरते रहते हैं (ताकि हम अपने देश के बल पर नहीं अपने बल पर शक्तिशाली कहलाये जाएं)। हमारे जीवन में यह दोरुखापन नितांत अर्थहीन है, हम न मन से लड़ते हैं और न मन से समर्पण ही कर पाते हैं। हममें से जो जितना ही भारतीय संस्कृति की बात करता है वह उतना ही भारतीय संस्कृति के प्रति भीतर-भीतर उदासीन रहता है और जो जितना ही आधुनिक पाश्चात्य दृष्टि की तारीफ करता है वह उतना ही आधुनिकता की संवेदना से शून्य रहता है।

जिस वर्ग के लोगों के आचरण से दूसरे शिक्षा ग्रहण करते हैं, वे लोग देखने में, बात करने में बड़े प्रगतिवादी हैं, पर अपने विचारों में बड़े ही रूढ़िवादी और आचरण में अवसरवादी। उनके कमरों की सजावट देखें तो आपको आधुनिक चित्रकला की कोई प्रिंट ज़रूर मिलेगी, पर उसके साथ ही फर्श की सज्जा पूरी मुगलिया होगी और पूजा के कमरे में कोई न कैलेंडर वाली शिव या कृष्ण की सूरत ज़रूर टंगी होगी। उनकी पसन्द पर आये तो उन्हें कैवरे नृत्य और ओडिसी में कोई खास फर्क नहीं नज़र आएगा। मुझे एक बार एक आयोजन ऐसे बड़े लोगों के सामने प्रस्तुत करने का अवसर मिला। बिरजू महाराज तब उभर रहे थे और उन्हीं का कार्यक्रम प्रस्तुत करने जा रहा था कि दर्शकों में से एक बहुत ऊंचे आदमी ने चिट भिजवाई—हम लोगों को कुछ मनोरंजन की सामग्री चाहिए कुछ गरम मसाला चाहिए यह शास्त्रीय कार्यक्रम नहीं चाहिए; हम लोग बोर होने नहीं आये हैं। संयोग से स्व० सम्पूर्णानंदजी भी वहां बैठे हुए थे, मैंने वह चिट उन्हीं के पास भिजवा दी और उन्होंने मंच पर आकर कहा कि यह उत्तर प्रदेश शासन द्वारा प्रस्तुत सांस्कृतिक कार्यक्रम है, जो संस्कृति से वास्ता रखते हों, वे ही कृपया यहां रहे, दूसरे लोग बाहर जा सकते हैं। और कार्यक्रम पूर्व योजना के अनुसार आगे चला।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैसे दमखम का कोई राजनेता हो तो सांस्कृतिक अस्मिता पर उतना बल दे, और तब ऐसी घटिया मानसिकता का ज़हर फैलने पर रोक लगे। यह कहे कि इस वर्ग के लोग जाज़ संगीत की ही पहचान रखते हों वह भी नहीं या इंगमार वर्गमैन की फिल्म की ही खूबी समझते हों ऐसी नयी बातों की चर्चा चलते ही ये विक्टोरिया के युग में पहुंच जाते हैं, इनकी आधुनिकता भी सौ वर्ष की सड़ांध वाली आधुनिकता है। उस समय यह भी संभव है, ये उपनिषदों और गीता की भी बात करने लगें। वैसे सही बात यह है कि इस वर्ग के लोग किसी भी उसूल के प्रति अप्रतिबद्ध हैं, किसी भी संस्कृति के साथ असम्पृक्त हैं और किसी भी देश-काल के साथ केवल उतनी ही दूर तक जुड़े हुए हैं, कितनी दूर तक इनकी रोज़ी का सवाल जुड़ा हुआ है, अन्यथा ये लोग देशातीत और कालातीत हैं।

इनका मूल्य-बोध एक धुली स्लेट है, जिस पर जो अंक चाहे आप चढ़ा दीजिए, फिर उसे मिटा दीजिए। सबसे अधिक शोचनीय बात यह है कि इनमें किसी भी संस्कृति के प्रति निष्ठा तो दूर, औपचारिक आदर का भाव तक नहीं है; और न किसी प्राचीन या अर्थहीन मूल्य को निरस्त करने का ही मनोबल है। कहने के लिए ऐसे लोगों में धार्मिकता का भी बानक मिलेगा, गाहे–बगाहे पूजा-पाठ भी होता मिलेगा, पर धर्म इनके घरों में आकर इतना सन्दर्भहीन हो जाता है कि मन करता है, कहें कि आप नास्तिक, अनुष्ठान-विरोधी होते तो अधिक अच्छा होता, कम से कम तब आपके ईमानदार होने की संभावना अधिक थी। इस पूरे वर्ग में योग, तंत्र, अन्तश्चेतना और अतिमानस से सम्बद्ध वांङ्मय की सुन्दर जिल्दें दिखेंगी (भीतर शायद पन्ने अगर छापते समय कटने से रह गए हों तो वह भी वैसे ही बरकरार हों) परन्तु बौद्धिक मुखौटे के नीचे चेहरे पर हर अपदेवता का, भूत-प्रेत का, अघोरी-औघड़ का, डाकिनी-शाकिनी का भय-मुर्दनी बनकर छाया हुआ है।

सांस्कृतिक विपन्नता का पहला कारण तो यह झूठी धार्मिक ज़िन्दगी है और दूसरा कारण है भाषा की प्राचीर, जो इन ऊंचे वर्ग और साधारण आदमी के बीच में खड़ी कर दी गई है।

यह प्राचीर पिछले पचीस-तीस वर्षों में काफी ऊंची और पुख्ता कर दी गई है। अवच्छेदकावच्छिन्न भाषा में शास्त्रों का प्रतिपादन करनेवाले अलौकिक संस्कृति पंडित भी शिष्यों तक अपनी बात पहुंचाने के लिए भोजपुरी, मैथिली-अवधी का प्रयोग करते थे, और अपने आसपास के लोक-जीवन से उदाहरण लेकर कार्यकारणवाद की गंभीर मीमांसा करते थे, घट-पट, कुलाल-तन्तुवाय, मिट्टी-कपास बार-बार अपनी शास्त्र-चर्चा में लाते रहते थे। सामन्तवाद के प्रतीक राजे-महाराजे भी भाषा-भूषण लिखकर साधारण आदमी के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पास, एक घड़ी के लिए सही, आने की दिली कोशिश करते थे। यहां तक कि अभी तीस वर्ष पहले तक वकील-डॉक्टर चाहे जहां से आकर किसी शहर में बसे हों उसके आसपास को देहाती बोली में ही अपने मुवक्किलों और मरीज़ों से बातचीत करने की कोशिश करते थे। मैंने अपने बचपन में बंगाली डॉक्टरों और वकीलों को बराबर भोजपुरी में ही बोलते सुना। राजनेताओं की तो फिर बात ही क्या, महात्मा गांधी के स्वराज्य की कल्पना ही राष्ट्रभाषा की धुरी के बिना अधूरी थी, अटक-अटककर ही सही हर नेता हिन्दी बोलने की कोशिश करता था। आज ज़रूर सब-कुछ बदल गया है। हिन्दी बीस साल में एक दिन राजनेताओं, विद्वानों, अफसरों और अन्य बुद्धिजीवियों के हाथ में राखी बांध देती है, उसे कुछ रस्मी भेंट मिल जाती है। सबसे दुःख की बात तो यह है कि हिन्दी का प्रबुद्ध लेखक भी छोटे आदमी की बात करने का दावा करता है, भोगी हुई ज़िन्दगी की वकालत करता है और भाषा ऐसी बोलता है जो ऊपरी बेलौसपन, नकली खुरदुरेपन और अतिरंजित तीखेपन के बावजूद छोटे आदमी और यथार्थ-भोगने वाले आदमी की पहुंच के बाहर रहती है, शायद शब्द वही हों, पर बीच में एक दीवार ज़रूर प्रतीत होती रहती है, जिसके आर-पार की बात सुनाई नहीं पड़ती।

कारण चाहे जो हो, हम अपनी बात को प्रामाणिक बनाने के लिए अजनबी मुहावरों के घेरे में पड़ गये हैं या हम पहले बाहरी लोगों से अपने को प्रतिष्ठित कराने पर अधिक ध्यान दे रहे हैं या हम छोटे की बात करते हुए भी अपना बड़प्पन बेदाग बचाए रखने के लिए कतरानेवाली राह पकड़े हुए हैं या हम साधारण बनते ही हम नहीं रह जाएंगे, इस आतंक से अपनी अहमियत कायम रखने के लिए एक बढ़िया ऊंची झाड़ की बाड़ उगाए हुए हैं! कारण में जाने से कुछ लाभ नहीं, वस्तुस्थिति यह है कि हमारी भाषा दुराव से घिरी हुई है और हमारी संस्कृति इस दुराव से घुट रही है।

इसका असर पूरी सामाजिक चेतना पर पड़ रहा है। एक ही शहर में रहते हुए भी खोलियों की ज़िन्दगी पर अतियथार्थवादी उपन्यास लिखने वाला सर्वहारा लेखक अलग भाषा बोलता है, अलग ढंग से सोचता है और उन खोलियों में रहने वाले लोग उसके उपन्यासों में उद्धृत होता हुआ भी उनके उपन्यासों को कहीं नहीं छूता, वह अलग संसार में रहता है। एक ही बड़ी फैक्टरी में मैंने स्वयं नज़दीक पैठकर यह देखा है कि अधपढ़ या अनपढ़ वर्कर फैक्टरी की यांत्रिक ज़िन्दगी की विरसता को मानस की पंक्तियों से सरस करने का प्रयत्न करता है। वह फैक्टरी की कमाई को साध्य नहीं मानता, दूर गांव में रहने वाले परिजनों के सुख के लिए इस कमाई को एक अपरिहार्य साधन-मात्र मानता है। वह यांत्रिक जीवन में पिसकर भी यांत्रिकता का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिकार नहीं होता, क्योंकि वह कहीं और भी है। इसके ठीक उल्टे शिक्षित-सुसंस्कृत ऊंचे पद वाले लोग जो काम तो करते नहीं, दूसरों के काम की सिर्फ देख-रेख करते हैं उनके काम का संचालन करते हैं विना यांत्रिकता में पिसे ही यंत्र वन जाते हैं।

मैंने देखा, छोटे से दायरे में साथ रहनेवालों में भी कोई संवाद नहीं है, क्योंकि एक अपनी ऊंची ज़वान से नीचे उतरने में डरता है और दूसरा अपनी ज़वान से अलग होने में जीवन की सार्थकता नहीं पाता; एक के लिए भय, अपनी अलग सत्ता के लोप का भय, बड़ा मूल्य है, दूसरे के लिए जीवन, ऐसा जीवन जो अपनाव से जुड़कर सार्थक हो, बड़ा मूल्य है। संवाद स्थापित न हो सके, इसके लिए कई प्रकार की व्यवस्थाएं की जा रही हैं। अपनी पोशाक-वाले स्कूल अब वड़े धंधों के रूप में फैल गए हैं, जहां पांच-छः साल सीखकर ही वच्चा पापा से कहता है—आप अभी नहीं जानते। नये-नये वछेड़ों को घुमा-फिराकर प्रशिक्षित किया जा रहा है कि वे गंवार और अनपढ़ लोगों को समझा सकें कि मुद्रास्फीति से कुछ खास डरने की ज़रूरत नहीं, यह तो विकास का एक लक्षण है, पुरानी नैतिक मान्यताएं प्रगति में वाधक हैं, शराब से मन की परतें खुलती हैं और ज़िन्दगी में बंधाव आने से सामाजिक चेतना कुंठित होती है, भ्रष्टाचार को सचाई के रूप में स्वीकार करके ही देश का विकास अधिक तेज़ी से किया जा सकता है और काले धन के संचय को खत्म करने के लिए राजनीतिक भ्रष्टाचार एक आवश्यक और अपरिहार्य निकासी का रास्ता है।

मूल प्रयोजन है कि दो भाषाएं जुदा-जुदा रहें—एक भाषा उसकी जो चलाता है, चलता नहीं, दूसरी उसकी जो चलता है, पर अभी उसने चलाने की चाल नहीं सीखी।

सांस्कृतिक विपन्नता का एक तीसरा कारण है : आज के हिन्दुस्तानी का असमसामयिक होना। हमारे देश के साथ सब से बड़ी ट्रेजेडी यह हुई कि राष्ट्रीयता की संकल्पना ही अतीत के गौरव पर हुई या फिर एक सुनहले भविष्य के स्वप्न पर। हममें से कोई भी यह नहीं भूलना चाहता कि यह देश सारे संसार का गुरु रहा है और हममें से हरएक यह आशा लगाए हुए है कि एक महापुरुष पैदा होगा, वह हमें फिर नया जीवन, नयी शक्ति दे देगा।

इस संकल्पना ने हमें कितना निकम्मा, कितना दम्भी, कितना उपहसनीय और कितना छोटा बना दिया है, यह कहने की ज़रूरत नहीं। हममें से जो वाहर गए हैं, वाहर में डूवने के लिए नहीं गए हैं, उन्होंने वड़ी ग्लानि का अनुभव किया है कि स्वाधीनता के बाद के हिन्दुस्तानी चिन्तन में राष्ट्र की संकल्पना का असमसामयिक आधार इतना खोखलापन ला चुका है कि आज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का हिन्दुस्तान महज़ एक भिखमंगा रह गया है।

यह मैं नहीं कह सकता कि यह विपन्नता दूर हो सकेगी या नहीं, पर इतना ज़रूर अनुभव करता हूं कि हमारी पूरी ज़िन्दगी बड़ी बेमेल बुनावट के कारण बीच-बीच में उधड़ती जा रही है, एक धागे और दूसरे धागे के बीच की जगह चौड़ी होती जा रही है, धागे टूटते जा रहे हैं और उनमें जगह-जगह गांठें पड़ती जा रही हैं। इस ज़िन्दगी को एकदम उतारकर फेंक दें, इसका साहस नहीं; और नई ज़िन्दगी बुन सकें, इसके लिए न संकल्प है, न यत्न। केवल शब्द हैं, रो लें या हंस लें या कहकर चुप हो जाएं।

कभी आती थी हाले-दिल पे हंसी,
अब किसी बात पर नहीं आती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१०

आधुनिक संदर्भ में आस्था की सही पहचान

आज आदमी के सामने दुहरा संकट है। एक ओर तो वह विद्युत् यन्त्र के निरन्तर विकास को एक बार गति देकर रोक नहीं सकता, दूसरी ओर वह विद्युत् यन्त्र से पैदा होने वाले असन्तुलन पर भी काबू नहीं पा सकता। विकसित देश आज वातावरण के उस दूषण के खतरों से जूझ रहे हैं, जो दूषण उनके तकनीकी विकास की देन है और विकास की ओर बढ़नेवाले देश विकसित देशों के तकनीकीकरण तक पहुंचने के लिए इसलिए लाचार हैं कि ऐसा न करें तो वे आदमियत के पैमाने से कुछ हीन समझे जाएंगे। भारत ने स्टाकहोम में हुए वातावरण से सम्बन्धित विश्वसम्मेलन में तीसरी दुनिया की ओर से बहुत मौलिक ढंग से यह बात उठाई कि आज कुशलता का मापदण्ड ऐसे माल का ज़्यादा से ज़्यादा उत्पादन है जिसकी सचमुच ज़रूरत नहीं है और जो फेंका भी जाए तो उसका कचरा कहीं भी खप नहीं सकता है (न ज़मीन के अन्दर, न आसमान में, न समुद्र में)। इस कुशलता की कितनी महंगी कीमत हम अदा कर रहे हैं और क्या हम इस प्रकार की होड़ को हद दर्जे की लापरवाही नहीं कहेंगे ? आज की दुनिया के जितने सारे वाद हैं, वे सभी (यहां तक कि वे भी जो निजी लाभ के सिद्धांत को अस्वीकार करते हैं) आदमी का मुख्य हित वस्तुओं के संग्रह में देखते हैं। आज जो आदमी और उसके इर्द-गिर्द के बीच असन्तुलन का संकट उपस्थित हुआ है, उसके पीछे यह संग्रह की भावना या दूसरे शब्दों में कहें बिलकुल तात्कालिक भूख और स्वार्थ की लिप्सा ही एकमात्र कारण है। वातावरण का प्रदूषण तकनीकी समस्या नहीं है और दोष विज्ञान या तकनीकी ज्ञान का उतना नहीं, जितना आज की दुनिया के मूल्य-बोध का है, जो दूसरों के अधिकारों की उपेक्षा करता है और इसके दूरगामी प्रभाव की चिंता नहीं करता। भारत का यह आस्थावान् स्वर आज के बौद्धिक आदमी के लिए बहुत महत्त्व रखता है। आज की संस्कृति में जो भय, अजनबीपन और अविश्वास बौद्धिक मूल्य बन गए हैं और बुद्धिजीवी इन मूल्यों की अपरिहार्यता स्वीकार करके न केवल अपने समाज से और अपने आसपास की प्रकृति से बल्कि अपने आप से भी बेगाना बन गया है उसका एक ही समाधान है, निषेधात्मक मूल्यों के बजाय गुणात्मक मूल्यों में आस्था जगाओ। ये गुणात्मक मूल्य हैं, मनुष्य में विश्वास, विश्वास से भी अधिक मनुष्य का मनुष्य के साथ अपनापन, मनुष्य को प्रभावित करने वाली हर एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धड़कन के साथ अपनापन, वह धड़कन बादलों को आलोकित करने वाली बिजली की हो, चाहे कमरे में घुसपैठ करने वाली गौरैया की हो, चाहे दूर आकाश के टिमटिमाते एक सितारे की हो, चाहे पैरों के नीचे सुबह की रोशनी में ढरती ओस की बूंद की हो, चाहे बड़ी-बड़ी मशीनों की हो या कलाई में बंधी हुई घड़ी की, हर एक घड़कन मनुष्य की अपनी धड़कन लगने लगे, तब कोई भी तकनीकी माया-जाल इंसान को फांस नहीं सकता।

तकनीकी प्रगति तभी आदमी को आदमी से अलग करती है, जब वह व्यक्ति की सुविधाओं के विस्तार पर अधिक ध्यान देती है, इतना अधिक कि समष्टि को कुछ दूसरी सुविधाओं से वंचित भी करने में संकोच नहीं करती। तब निश्चय ही एक अन्धा चक्कर बन जाता है, मोटरगाड़ियों का उत्पादन इसलिए बढ़ाया जा रहा है कि उस पर आधारित व्यक्ति या व्यक्तियों के झुंड जीवन की सुविधाओं का उपभोग करते रहें, भले ही इन गाड़ियों की पेट्रोल की दूषित हवा सांस लेने के लिए वित्ता-भर ज़मीन भी अप्रभावित न छोड़े और यदि दूषण रोकने के उपाय किए जाते हैं तो व्यक्ति-केन्द्रित तकनीकी उद्योग एकदम बैठ जाते हैं और प्रभावित व्यक्ति बेकार होकर विनाश के कगार पर आ जाते हैं। आदमी जब दूसरे आदमी को ढकेलकर आगे बढ़ता है तो वह जितना बढ़ता है, उससे कहीं ज़्यादा पीछे ढकेल दिए जाने का खतरा मोल लेता है। इसी तरह आदमी जब अपने परिवेश पर विजय प्राप्त करने के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करता है तो वह परिवेश से अधिक अपने को आघात पहुंचाने का जोखिम उठाता है। और तब हंगारी कवि यानीस पिलिज़्की के शब्दों में--

हर सांस एक ताज़ा घाव बन जाती है
और हर धड़कन मार गिराने वाली हथौड़े की चोट

आदमी अपने परिवेश को, अपने आसपास के हवा-पानी को, अपने इर्द-गिर्द के पशु-पक्षी और कीट-पतंगों को जब अपने विरोध में खड़ा देखता है, तब वह केवल इस परिवेश से ही एकदम कटाव नहीं महसूस करता, अपने से भी कटाव महसूस करने लगता है। इस परिवेश के साथ घुल-मिलकर ही अपने को परिवेश का अधिपति बनाया जा सकता है, परिवेश को नष्ट करके ही परिवेश का आधिपत्य पाने का रास्ता आत्मघातक रास्ता है, यह भारत में सहज भाव से स्वीकृत सत्य के रूप में प्रतिष्ठित है। आधुनिक संस्कृति यानी पश्चिमी चिंतन से अभिभूत आधुनिक संस्कृति की सबसे बड़ी विडंबना यही है कि वह पूरब की संस्कृतियों की ऐसी बातों में तो भटकने में बहुत उल्लसित होती है, जो जीवन-धर्म न होकर जीवन-धर्म की बाहरी पारदर्शी खोल होती हैं, एक तरह से नये जीवन के वरण के पूर्व की केंचुल होती हैं, पर इन संस्कृतियों का जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वास्तविक आधार है, उसे स्वीकार करने में बड़ी हेठी मानती है। प्रकृति में पलायन करना इसे रुचेगा, आदिम जीवन में आधुनिक जीवन की पूरी तितास लेकर लौटना भी एक रास्ता दिखेगा या फिर तकनीकी उद्योगीकरण की गति में और तीव्रता लाना ही एक रास्ता दिखेगा, उपभोग की भूख बढ़ा के, अनावश्यक उत्पादनों की मात्रा बढ़ा के अपने को एकदम भोग-जर्जर बनाना ही श्रेयस्कर दिखेगा, पर इस संस्कृति को हज़ारों वर्षों से सन्तुलन का एक आज़माया हुआ नुस्खा गवारा न होगा। वह भारत का है या जापान का है, इससे उसकी कीमत कम नहीं होती। भारत तकनीकी ज्ञान पश्चिम से ले रहा है पर अपनी आस्था को गिरवी रखकर नहीं। भारतीय आस्था न तो यूनानी लोगों की देववाद से एकदम आक्रांत आस्था है, न मध्ययुगीन यूरोपीय धर्माक्रांत आस्था है, यह आस्था समूची सृष्टि के साथ मनुष्य की साझेदारी में आस्था है। इसीलिए भारतीय आस्था का न तो विज्ञान से विरोध है, न तकनीकीकरण से, क्योंकि विज्ञान और तकनीकीकरण यदि मानवीय उद्देश्य से प्रेरित होंगे तो वे निश्चय ही आसुरी नृशंसता से बचना चाहेंगे। इस आस्था का विरोध प्रकृति से नहीं, क्योंकि यह मनुष्य को प्रकृति के शीर्ष पर या केन्द्र में स्थापित न करके एक साथ अनेक केन्द्र, अनेक शीर्ष औरअनेक परिधियों की कल्पना करती है, जिससे कभी मनुष्य केन्द्र में होता है तो कभी मामूली छोटी-सी पराग की कणिका केन्द्र में हो जाती है और मनुष्य उसका सबसे बाहरी परिधि बन जाता है। यह आस्था मनुष्य के परिवेश को वस्तु या विषय के रूप में नहीं देखती, बल्कि आत्मा या विषयों के रूप में देखती है, मनुष्य का महत्त्व इस परिवेश का सामंजस्य ठीक तरह से बनाए रखने में है। जब कभी वह देखता है कि सामंजस्य बिगड़ रहा है, और कोई मनुष्य ही है जो यह सामंजस्य बिगाड़ रहा है तो वह आदिकवि वाल्मीकि की तरह उबल पड़ता है :

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

बहेलिये, तुम अनन्त-अनन्त काल तककलंकित रहोगे, क्योंकि तुमने एक चकई-चकवे के जोड़े को उस समय बिछुड़ाया, जब नर अपनी मादा के साथ एक होने की प्रक्रिया के उत्कर्ष परपहुंच गया था, कभी दूसरे समय तुम उसे वध्य बनाते, कोई बात नहीं थी, पर नयी सृष्टि की तैयारी के लिए जो मिथुन का क्षण उपस्थित हो रहा था, उसे तुमने नष्ट कर दिया। आज ऐसे जाने कितने जोड़े बिछुड़ रहे हैं और वाल्मीकि के आक्रोश के स्थान पर महज कोरी और नपुंसक उदासीनता छा गई है। ब्रेख्ट ने आज के ज़माने के अक्लमन्दों की इस उदासीनता का ठीक ही चित्र खींचा है—

मैं भी अक्लमन्दों में शरीक होना चाहता हूं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुरानी पोथियों में तुमने भी अक्लमन्दी के नुस्खे पढ़े होंगे
दुनिया के झमेले में न पड़ना
और छोटी-सी ज़िंदगी को खतरे में न डालना
महफ़ूज़ रहकर ज़िंदगी गुज़ार देना
मारकाट से बचना
बुराई का जवाव नेकी से देना
अपने मन की मुराद पूरी करने के पहले उसे भूल जाना
ये ही तो अक्लमन्दी की निशानी गिनी जाती है।
मैं लाचार हूं, मेरे बस की एक भी नहीं
सच कहता हूं वेहद उदास ज़माने में जी रहा हूं।

आज का इन्सान पछता रहा है, कहां से हमें तकनीकी विकास की भूख जगी। ऐसी भूख जो वढ़ती ही जाती है और इस भूख की आग में भीतर-वाहर सब भस्म होता जा रहा है। हम सोचते थे हम नयी-नयी मशीन ईजाद करेंगे, ये मशीनें हमें स्वावलम्वी बनाएंगी, हम हवा-पानी की मनमानी के मुहताज न रहेंगे और हालत अव यह है कि हम मशीन के मुहताज हो गए हैं, विजली गुल होती है तो हमारे हाथ-पैर बेकार हो जाते हैं, हम न कुछ कर पाते हैं, न कुछ सोच पाते हैं। अव तो हम यह मनाते हैं कि हम अपनी ही बनाई मशीन के फांस से कैसे छूटें। पर पछता करके भी या तो सस्ते और वहुत जल्दी ही ऊव बन जाने वाले मन-वहलाव या ठीक-ठीक कहें मन के भटकाव के रास्तों पर चलकर एकदम नशे और वहशियाना सेक्स में गर्क हो जाते हैं या फिर चुपचाप अपने को मशीन का एक पुर्जा बनाकर अपने को सुरक्षित कर लेते हैं, प्रत्येक दशा में हम परिचालक न रहकर परिचालित हो जाते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण मेरी समझ में आदमी की आदमी में आस्था की कमी है, भारतीय चिंतन की शब्दावली में स्व की सही पहचान की कमी है। स्व की जव सही पहचान होती है तो केवल व्यक्ति का दुख-दर्द नहीं दिखता, स्व को भावित करने वाले पूरे संसार का दुख-दर्द दिखने लगता है। महाभारत में युद्ध के विनाश को जब कवि का पात्र मापने चलता है तो अपने दुख को पृथ्वी के दुख से जोड़े बिना नहीं रहता—

असम्प्राप्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः।
श्वः श्वः पापीयदिवसाः पृथिवी गतयौवना॥

आज जो ऐसे दिन देखने को मिल रहे हैं कि सुख का नामोनिशान नहीं, दारुण दुख दूने वेग से फिर से घिर आया हो, एक के वाद दूसरा दिन और गहरे पाप के फल जैसा दहक रहा हो—लगता है कि धरती का यौवन ढल गया, युद्ध से नयी सृष्टि की सम्भावना चूक गई। यह समष्टि-चेतना व्यक्ति के दारुण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आघात को बड़ा सन्दर्भ दे देती है और तब यौवन के वापस लौटने की सम्भावना भी प्रखर हो उठती है। द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका का बड़ा गहरा असर कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर पर पड़ा था और अपने अन्तिम दिनों में इस अमानवीय लीला से वे मर्माहत थे, बार-बार सोचते थे, मनुष्य का क्या होगा और सुना है महाभारत से उन्हें बड़ी शांति मिलती थी, वे यह श्लोक दुहराकर बड़ी राहत पाते थे--

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति।।

अधर्म से अभ्युदय तो बड़ी तेज़ी से होता है, आदमी का उत्कर्ष भी चमत्कारी होता है, अपने विरोधियों पर उसकी विजय भी लोगों को चकित कर देती है, पर अधर्म से आगे बढ़ने वाला जब नष्ट होता है तो जड़समेत नष्ट होता है, फिर उसका कोई नामलेवा नहीं रहता। अधर्म अपने अभ्युदय में जितनी तेज़ी से भभकता है, उतनी ही तेज़ी से वह बुझता भी है।

रवि ठाकुर का यह विश्वास भारत की अन्तरात्मा का विश्वास है और इस विश्वास की जितनी प्रासंगिकता आज है, उतनी कभी इसके पहले नहीं रही, क्योंकि इतनी तेज़ी से बिना किसी पूर्वचिंतित प्रयोजन के न तो बदलाव हुए, न इतनी तेज़ी से मानवीय मूल्यों के देखते-देखते भयंकर गिराव हुए कि आदमी अपने को बिना किसी लाचारी के महज़ मौज के लिए बेचने को तैयार हो गया और बौद्धिक ईमानदारी की दम भरने वाले ने कहा कि हां ठीक ही तो है, यही तो आदमी की नियति थी।

यांत्रिकता से बुरी तरह जकड़ी हुई परिस्थिति में भी सांस्कृतिक चेतना के उबरने की आशा अगर कुछ है तो आस्था से है। आस्था दुर्बल से दुर्बल मनुष्य की परिस्थितियों को झेलकर निखरने की सम्भावना में और आस्था संकीर्ण से संकीर्ण मनुष्य की अतलस्पर्शी उदारता में। खुदगर्ज़ी अपनी हद को गुज़र जाए, तब भी आदमी में आदमी के लिए दर्द जगाया जा सकता है, क्योंकि बिना इस दर्द के आदमी का जीना कोई माने नहीं रखता। यह सही है कि आदमी आज अपने ही उठाए बोझ से टूट रहा है, पर बोझ उठाने की माद्दा उसकी एकदम बढ़ाई जा सकती है, जब वह समझे कि यह बोझ अपने लिए नहीं, अपने बच्चे के लिए है, आगे आने वाली पीढ़ी के लिए है। जो बात एक आदमी पर लागू होती है, वह समाज पर भी लागू होती है, और समाजों से बने देश पर भी लागू होती है। आज की स्थिति का तकाजा है कि आदमी आदमी पर अनाश्रित रह नहीं सकता है, देश-देश पर अनाश्रित रह नहीं सकता है, आदमी को आदमी के साथ लय मिलाकर रहना होगा, देश को देश के साथ लय मिलाकर रहना होगा और साथ ही आदमी को अपने को चैतन्य का ठेके-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दार मानकर नहीं बल्कि अपने को जड़-चेतन का संयोजक मानकर रहना होगा। कार्ल यास्पर्स के शब्दों में आज जरूरत इस बात की है कि इंसान दूसरे इंसानों के साथ अपने को ऐतिहासिक सत्ता के रूप में विश्वसत्ता में घोलकर मिला दे, जिससे वह बेघर होकर एक नये और बहुत बड़े घर का मालिक हो जाए। अपनी इतिहासबद्ध सत्ता को विलीन करना भी तभी उसके लिए सम्भव होगा, जब वह अपने को विश्वसत्ता से एकदम दूर खींच ले। दूर खींचना भी बौद्धिक व्यायाम से नहीं सधेगा, सधेगा तो समूची वास्तविकता के एक साथ भावात्मक संस्पर्श से। यह भावात्मक संस्पर्श ही गीता के शब्दों में सात्त्विक श्रद्धा है।

जितने भी प्राणी हैं, वास्तविक सत्ताएं हैं, उनमें एक न चुकने वाला होने का व्यापार, घटित होने की एक प्रक्रिया देख सकना और उस प्रक्रिया से अपने को जोड़ सकना यही सच्ची आस्था की पहचान है और इस पहचान की आज विरलता चाहे हो, अभाव नहीं है, क्योंकि मनुष्य है तो कितना भी गहरा संकट हो आस्था उसे जरूर उबारेगी। पर आस्था एक आदमी में न होकर समूचे आदमी में होगी और समूचे आदमी के साथ-साथ समूचे आदमी की समूची क्षमता में होगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

११

चिंतन-कण

जीने का राज़

मेरे घर कभी कभी वस्ती के एक वुजुर्गवार आया करते, उन्होंने अपना उपनाम लुच्चेश रख छोड़ा था। उनके आते ही फुलझड़ियां शुरू हो जातीं और जब चलने लगते तो कहते—तुम लोगों के वीच इतनी देर रहा, दस बरस मेरी उम्र कम हो गई, अपने हमउम्रों के बीच में बैठते ही जो रोना सुनता हूं, मेरे ज़माने में यह था, अब तो क्या ज़माना आ गया है, तो दस बरस और बूढ़ा हो जाता हूं। लुच्चेश जी हंसते-हंसाते चले गए, पर वे व्यतीत न हो सके, क्यों कि वे अतीत में खोए नहीं, अतीत को वर्तमान में जीने में सुख पाते रहे। पर अधिकतर बुजुर्ग लोगों को देखता हूं, जो सामने है, उसमें केवल दोष देख रहे हैं, जो बीत चुका है, उसी की याद भुना रहें हैं, धीरे-धीरे उनकी यादें भूत बनकर न सिर्फ उनके वल्कि उनके आसपास वालों के ऊपर सवार हो जाती हैं और लोग किनारा कसने लगते हैं। भूत काल में घुसे रहने से आदमी स्वयं भूत होता चला जाता है, बुढ़ापा और वढ़ता चला जाता है।

मुझे लगता है, बुढ़ापा शरीर का धर्म उतना नहीं है, जितना मन का। जो आदमी अपने आसपास के लोगों में रुचि लेता है, पर किसी हौंस से नहीं, प्यार से और हमदर्दी से, जो अपनी बीती बातों को बिसराकर दूसरों की जीती-जागती वातों में हिस्सा लेता है, दूसरों को सुख देने में सुख पाता है वह बूढ़ा नहीं होता।

पिछले साल मेरी सास सुरधाम गई और जाने के एक घंटे पहले अपने डाक्टर, अपने पंडित और अपने मिलने वाले पड़ोसियों के चाय-पानी के लिए हुक्म लगाती रहीं, दिल डूब रहा था, पर उनकी आवाज़ वैसी ही बुलन्द थी। शाम हुई, कतकी पूनों एक दिन रह गई थी, याद आई तुलसी के चौरे पर दिया नहीं जलाया, तुरंत हुक्म लगाया कि कलूटी (उनकी तुलसी श्यामा थी) के आगे उजाला तो मेरी ओर से कर दो। अगर वे अपने बीते ज़माने रो बिसूरतीं, अपने सामने गुज़री सन्तानों को बिसूरतीं तो कहां से यह जीवन आता—वे तो मर चुकी होतीं। पर दूसरों की हंसी में खिलखिला कर वे अन्त तक जीती रहीं।

पर कितने बूढे और बुढ़िया हैं जो जीने का यह राज जानते हैं! कितने हैं, जो डुकरिया पुराण का लोभ संवरण कर सकते हैं और अपनी जीवन-यात्रा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की सफलता आगे वाली पीढ़ी की हंसी-खुशी में पहचान सकते हैं !

ऊब बनाम उत्सुकता

हमारी शहरी ज़िन्दगी को बड़ी तेज़ी से ऊब घेरती जा रही है। हमारे बच्चे तक कहने लगे हैं—भाई बोर हो गये, आज कहीं घुमाने ले चलिए और उन्हें घुमाने ले गए तो वहां बोले, इस नुमाइश से तोबा कीजिए, ऊब गए, घर ले चलिए। मैं एक-दो साल विदेश में था, वहां तो इस ऊब की और लीला देखी। वहां शनिवार, रविवार प्रति सप्ताह छुट्टी के दिन होते हैं। शुक्रवार की शाम को देखा, एक जोड़ा बड़ी उतावली में एक मोटर गाड़ी की ओर बढ़ रहा है, एक ने पहचाना, मैंने बदस्तूर कहा—तुम्हारी छुट्टी सुखद हो, उसने भी छुट्टी की शुभकामना दुहराई और आगे बढ़ा। सोमवार को वही लड़का कक्षा में आया, मैंने पूछा—मित्र, इतने उदास क्यों हो, बोला, खुदा का शुक्र कि छुट्टी खत्म हुई, लड़की से नजात मिली, एक हजार मील मोटर चलाई, समुद्र तट पहुंचे, तट लोगों से पटा, लड़की का मिजाज कुछ मिलता नहीं था, सब नरक हो गया। उसी दिन तीसरे पहर उस लड़की और उस लड़के को काफी-कक्ष में दो अलग कोनों में बैठे देखा, जैसे एक दूसरे को पहचानते तक न हों।

तकनीकी विकास ने सामूहिक उत्पादन के द्वारा एक सपाट एकरसता का ऐसा विस्तार किया है कि नई से नई वस्तु अपना नयापन खो देती है, क्योंकि वही वस्तु महीने-भर में सारे शहर में तमाम लोगों के पास दिखने लगती है। तब शौकीन महिला नयेपन के लिए हिन्दुस्तान के कुटीर उद्योग की वस्तुओं से अपने को सजाकर नई दिखाना चाहती हैं और बाजार उनसे दस दिन में पट जाता है, वह नयेपन से ऊब जाती हैं। शायद तकनीकी सभ्यता का यह अभिशाप है कि आदमी हर चीज से ऊब जाय, यहां तक कि आदमी आदमी से ऊब जाय और एक घर में साथ रहते हुए भी अपने ही परिवार से एकदम कटकर अजनबी हो जाय।

इसके ठीक उल्टे दूसरे दर्जे के रेल के डिब्बे में कभी सफर करें तो मिलेगा, चढ़ते समय धक्का-मुक्की होगी, गाली-गलौज होगी, बैठ जाने पर घर-गांव के कुशल-क्षेम की बात शुरू होगी तो विदा होते समय सामान उतारने में भीतर का वही उजड्ड आदमी मदद देगा और कहेगा भाई भूलना नहीं, कभी मेरे घर आना, बेगानेपन को ऐसी चुनौती, अपनापे का ऐसा भाव कि शहरी संस्कार वाले होंगे तो आप हंसेंगे। पर खुद सोचें, वह ऊब अच्छी कि यह उत्सुकता अच्छी। माना कि अनावश्यक उत्सुकता कभी-कभी दूसरे आदमी को चुभ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकती है, यह भी माना कि दुर्भाग्यवश उत्सुकता आतंक बन सकती है, पर सहज भाव से आदमी अगर उत्सुक होने का भाव खो दे तो उसका जीना दूभर हो जाएगा। जब तक उत्सुकता बनी हुई है, चाहे किसी सुन्दर अनदेखे दृश्य के लिए हो, चाहे किसी अनसुनी आवाज़ के लिए, चाहे किसी नए चेहरे के लिए हो या किसी नए ज्ञान के क्षितिज के लिए तब तक जीने को गति मिलती रहेगी, हृदय सरस होता रहेगा, मन उदार होता रहेगा। ऊब तो यांत्रिकता के आगे आदमी की पराजय है। ऊब ही सभ्य मनुष्य को हिंस्र बनाती है अपने प्रति और दूसरों के प्रति। उत्सुकता आदमी को अपने से और पराए से दोनों से जोड़ती है।

अस्ति की पहचान

मैं कुछ दिनों तक स्वर्गीय महापंडित राहुल सांकृत्यायन के साथ एक ही कमरे में उनके सहयोगी के रूप में कार्य करता रहा। लोगों ने मुझसे कहा, राहुल जी की रचनाओं ने चेतावनी दी, राहुल जी नास्तिक हैं, पर उनके सहज व्यवहार ने यह सब झुठला दिया। कभी भी उन्होंने ईश्वर है या नहीं, यह बहस नहीं छेड़ी, कभी भी मेरे गंगास्नान पर कोई फबती नहीं कसी। कड़े परिश्रम की उन्होंने दीक्षा दी और इससे बड़ी दीक्षा दी आदमी में अस्ति की पहिचान की। मेरे एक दूर के रिश्ते में चाचा लगते थे, इलाहाबाद मुझसे मिलने आए, चार-पांच दिन रह गए। राहुल जी ने फुरसत के समय चाचा से भोजपुरी में बात शुरू की और कुछ ही क्षणों में आत्मीयता में उन्हें ऐसा बांधा कि चाचा राहुल जी से एकदम घुलमिल गए। इस बतरस में एक दिन ऐसा भी हुआ कि चूल्हे पर रखी दाल जल गई। मैं बाहर निकल गया था, आया तो जलने की गंध-भर रही थी और बातचीत के समाप्ति पर आने के कोई लक्षण नहीं थे। मैंने याद दिलाया, चाचा हड़बड़ा कर रसोई की तरफ गए, राहुल जी को मैंने उलाहना दिया कि बाहर के लोग आते हैं उनसे तो बात करने की आपको फुरसत नहीं और चाचा से आप बात किए चले जा रहे हैं। उन्होंने बड़े मृदु कंठ से उत्तर दिया—विद्यानिवास जी, छोटा से छोटा आदमी भी प्रकाश का अद्वितीय पुंज है, उनके पास कुछ न कुछ ऐसा है जो किसी दूसरे के पास नहीं और मैंने जो कुछ जीवन में पाया है, इसी तरह लोगों से बटोर-बटोर कर पाया है, चाचा से मैं उनके गांव के इतिहास से जुड़ी कहानियां सुन रहा था और उनमें से मुझे एकदम नई जानकारी मिली। राहुल जी के साथ कई जगह गया, उनके पूर्व-पुरुषों के गांव गया और सब जगह मैंने देखा, वे हर आदमी की अलग अस्ति पहचान रहे हैं, उस अस्ति के स्पर्श से बराबर कोई नई किरन उकसा रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुझे लगा कि यही असली अस्ति की पहचान है, यह पहचान हो जाय तो कोई जगह पराई नहीं लगती, कोई आदमी पराया नहीं लगता। यह पहचान धीरे-धीरे बढ़ेगी बशर्ते कि अपने भीतर आत्मीय बनाने का दंभ न हो, दूसरों का मन जीतने का भाव न हो, अपने को एक नये प्रकाश के आगे अकिंचन याचक मानने का भाव हो और उस प्रकाश को पाकर निहाल होने का भाव हो। आदमी याचक तो बन जाता है, पर नई किरन से निहाल होने का भाव नहीं सीख पाता। उसके लिए आदमी को सहज होना पड़ता है, पर कृत्रिमता की जकड़ ऐसी है कि सहज होना ही सबसे कठिन है। सहज होने का मतलब है अपने को पूरी तरह खाली कर देना और तब उस खाली जगह को भरने के लिए अपने-आप कोई प्रकाश आकुल हो जाता है, अपने अस्ति को विरेचित करके ही विराट् अस्ति से अपने को परिपूरित किया जा सकता है, पर राहुल जी जैसी अस्ति की विनम्र पहचान हो, तब।

ज्ञान से अधिक अपने अज्ञान को पहचानें

मेरे ऊपर गुरुदेव स्वर्गीय क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय का ऐसा ऋण है कि कभी उसे चुका नहीं सकता। मुझे अंग्रेजी से खींचकर संस्कृत की ओर ले आए। उन्होंने मुझे संस्कृत के चौड़े-संकरे कितने रास्तों पर चलाया, पर सबसे बड़ी बात उन्होंने जो सिखाई वह यही थी --अपने ज्ञान से अधिक अपने अज्ञान को जानते रहो। मेरे गुरु स्व० पंडित गंगानाथ झा ने यही शिक्षा दी, जो विषय तुम्हें न आता हो, उसके बारे में स्पष्ट कहो—यह मुझे नहीं आता है, इसके बारे में अध्ययन करके कुछ कह सकूंगा। उन्होंने एक बार दूसरे विद्वान का तर्क दुहराने पर डांटा, तुम तर्क तो दे रहे हो, पर जिन तथ्यों के आधार पर ये तर्क दे रहे हो, उन्हें तुमने खुद जांचा? जब तक तुम स्वयं उनकी जांच-पड़ताल नहीं कर लेते, तुम्हें दूसरे के तर्क के उपयोग का अधिकार नहीं मिलता। जितना ही ज्ञान अर्जित करोगे तो पता चलेगा कि जितना तुम जान पाते हो वह कितना कम है और जितना तुम नहीं जान पाते वह कितना अछोर है। अधिक जानना चाहते हो तो बराबर जानने की, पहचानने की स्वीकारने की कोशिश करो—अभी इतना सारा पड़ा है जो मैं नहीं जानता हूं, अपनी इस अतृप्त ज्ञान साधना के कारण ही वे अपने जीवन-भर ज्ञान के साधक बने रहे। प्राचीन संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन में उनकी गहरी रुचि थी और वे ज्ञान की अखंडता में ऐसा अखंड विश्वास रखते थे कि किसी भी जाति की उपलब्धि से अपनी जातीय उपलब्धि को जोड़े बिना अपनी उपलब्धि को अधूरी मानने थे। सुमेर की संस्कृति और वैदिक संस्कृति की उपलब्ध विवेचना से संतुष्ट नहीं थे, कहते थे जब तक मैं स्वयं वह भाषा न सीख लूं, तब तक मुझे यही लगेगा कि मैंने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुमेर के बारे में सुना है, मैं खुद कुछ नहीं जानता हूं।

उन्होंने यह भी समझाया कि जब तुम अपने अज्ञान को पहचानोगे, तब तुम उसे दूर कर पाओ या नहीं, अपने शिष्यों को प्रेरणा दे सकोगे कि तुम अंधकार को चीरो, इसे मैं नहीं चीर सका। तभी तुम विश्वास कर पाओगे कि मनुष्य के ज्ञान की मात्रा तुममें चुकी नहीं, वह तुमसे आगे जाएगी, तुम उसे रोकने वाले जड़ पत्थर न होगे, तुम उसे रोकने वाले हिलोर होगे। मैं चैतन्य की हिलोर बन सका या नहीं मैं नहीं जानता, पर गुरुदेव की इस दृष्टि ने मुझे जड़ पत्थर न होने दिया, मैं उनको प्रणाम करता हूं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१२

भारतीय कलादृष्टि

भारतीय कलादृष्टि के वारे में बात शुरू करने के पहले भारतीय भाषादृष्टि और भारतीय काव्यदृष्टि के मुख्य आधारों की चर्चा वहुत आवश्यक है, क्योंकि भारत में कला वाग्व्यापार-निरपेक्ष नहीं है, वाक् ही समस्त विद्याओं और कलाओं को जोड़ने वाला सूत्र है। वाक् केवल भाषाव्यापार नहीं है, वह समस्त सर्जनात्मक व्यापार मात्र के लिए उपलक्षण है। यही कारण है कि चाहे चित्रकला हो, शिल्पकला हो, संगीतकला हो, नाट्यकला हो, काव्य हो— समस्त कलाओं की अधिष्ठात्री देवी एक है, वह है सरस्वती जो सारस्वत साधना की प्रेरणा का स्रोत है, दूसरी ओर गहरे और आध्यात्मिक स्तर पर अव्यक्त सृष्टि के उन्मीलन की साकार प्रतिमा है। यद्यपि ग्रीक और भारतीय दोनों चिन्तनों में अमूर्तता की ओर जाने की प्रवृत्ति वहुत प्रवल रही पर भारतीय चिन्तन में प्रत्येक सर्जनात्मक क्षेत्र में अमूर्तता का आग्रह और भी अधिक प्रबल रखा है। भारतीय शब्दशास्त्र तो यहां तक जाता है कि प्रत्येक ज्ञान के पूर्व शब्द है और ऐसा कोई भी अनुभव-गोचर ज्ञान नहीं है, जो शब्द से विंधे विना प्रतीत होता हो। शब्द से यहां श्रवण-गोचर शब्द से तात्पर्य नहीं है, शब्द से तात्पर्य श्रवण-गोचर शब्दों को स्फोटात्मक और वुद्धि में स्थित संस्कार के रूप में वर्तमान शब्द के अमूर्त आकार से है। यहां के आध्यात्मिक चिन्तन में भी नाद और प्रकाश में तादात्म्य माना गया है। कुमार स्वामी ने ठीक ही कहा है कि भारतीय मन्त्रसाधना के सबसे श्रेष्ठ गायत्री मन्त्र में सूर्य का ध्यान प्रकाश और नाद को एकात्म करने वाले देवता के रूप में है और यह आकस्मिक नहीं है कि सूर्य शब्द जिन दो धातुओं से व्युत्पन्न माना गया है वे नाद और प्रकाश दोनों के वाचक हैं। एक प्रकार से नाम और रूप ही सृष्टि का पर्याय है, नाम सूत्र है, रूप विस्तार है। नाम प्रतीतियों की अविच्छिन्न श्रृंखला है, रूप प्रतीति का एक गृहीत क्षण। नाम सूक्ष्म है, रूप स्थूल। 'इस नामरूपात्मक प्रपंच के साथ विभिन्न प्रकार की कलासृष्टियों को जोड़ते हुए भारतीय चिन्तकों ने निरन्तर नाम से रूप के उन्मीलित होने पर बल दिया है और रूप की प्रत्येक अभिव्यक्ति में अनभिव्यक्त नाम को किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्त देखने का प्रयत्न किया है। साहित्यशास्त्र में ध्वनिसिद्धान्त, नाट्यशास्त्र में रससिद्धान्त, कलाशास्त्र में रेखासिद्धान्त, संगीतशास्त्र में रागसिद्धान्त इसी प्रकार की खोजों के परिणाम हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भारतीय कलादृष्टि में भारतीय भाषादृष्टि की अमूर्तता के अलावा एक दूसरी चीज़ और है, वह है योग की धारणा। योग के दो अर्थ हैं, एक तो है जुड़ना व्यष्टि चित्त का समष्टि चित्र से, आज की भाषा में व्यक्ति का समाज से पर हिन्दुस्तानी खयाल से व्यक्ति का निर्व्यक्ति से, देह का विदेह से और जुड़ना कलाकार का कला के सहृदय भावक से, 'सब कुछ' का 'इस एक' ,से निर्विशेषरूप समग्रका विशेष रूप असमग्र से और सबसे अधिक सार्थक रूप में जुड़ना स्वयं अपनी सिसृक्षा-रूप उस कालिका से जो अपनी निजता के शव के ऊपर खड़ी होती है। दूसरा है अपनी चित्तवृत्तियों को बाहर से खींचकर भीतर लाना और फिर भीतर के प्रकाश से न केवल अपनी इन्द्रियों के बाह्य शरीर को, बल्कि आसपास के पूरे परिवेश को आलोकित करना। इसलिए भारतीय कला में सौन्दर्य की कल्पना अंगसौष्ठव पर या व्यायाम के अभ्यास से प्राप्त अंगों के सुगठित कसाव पर बिलकुल ध्यान नहीं देती। वह जिस सौन्दर्य को अपना ध्येय बनाती है, वह भीतर के अनुशासन से ही नियन्त्रित है। यदि उसमें कुछ अतिरंजनाएं हैं, पाश्चात्य वस्तुवादी दृष्टि से कुछ अवास्तविक लगने वाली गहरी या उभरी रेखाएं हैं तो उसका कारण वास्तविक पहचान में कमी नहीं, भीतरी वास्तविकता की सही पहचान है, जिसके आगे जो कला में दृश्य होता है वह प्रत्यक्ष दृष्टि से कुछ अलग हो जाता है क्योंकि वह दृश्य नहीं रहता, वह उसी क्षण द्रष्टा और दृश्य दोनों से अभिन्न हो जाता है। योग की धारणा का मुख्य उद्देश्य यही है कि चित्तवृत्तियों के निरोध और शुद्धरूप से अपने वास्तविक स्वरूप को ध्यान के द्वारा विषयों का संस्कार ऐसा किया जाये कि वे विषय न रह जायें, इसलिए वे बन्धन न बन सकें। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भारत में शरीर से अलग कोई अध्यात्म नहीं है। यदि अध्यात्म है तो वह शरीर को आलोकित करके उस लौकिक शरीर में है। किन्तु यहां यह स्मरण रखना चाहिए कि अभिनव गुप्तपादाचार्य जैसे भारतीय विचारक कलाबोध को योग के समकक्ष मानते हुए भी योग के द्वारा प्राप्त समाधि के अनुभव से अलग मानते हैं। वे किसी एक को छोटा और दूसरे को बड़ा नहीं मानते। दोनों के उद्देश्य में अन्तर मानते हैं, योग-प्राप्त समाधि का उद्देश्य एक महत्तर चैतन्यप्रवाह के प्रति अपने को विशेष भाव से सौंप देना होता है, जबकि कलासमाधि का उद्देश्य कला के अनुभव करने वाले में समस्त अतद्रूप वस्तुओं का पूर्णरूप से विलयन होता है। योगसमाधि में अनुभाविता महत्तर चैतन्य प्रवाह का अंग बन जाता है, कलासमाधि में जो कुछ भी अनुभाविता से अलग है, पूरा वस्तुजगत् से अलग न रह कर अनुभाविता में ही विलीन हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कलासृष्टि लौकिक अनुभव का तिरस्कार नहीं करती, लौकिक अनुभव को ही कलानुभव में परिणत करती है। इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकार प्राचीन भारतीय कलादृष्टि (हम यहां मध्ययुगीन भक्ति या भक्ति-काव्य या भक्तिकाव्य से प्रभावित कला की बात नहीं कर रहे हैं) विषय का निषेध नहीं करती, वह विषय को विभाव के रूप में देखती है। यहां यह उल्लेखनीय है कि विभाव दो प्रकार के होते हैं, आलम्बन और उद्दीपन। प्रकृति को उद्दीपन विभाव मानना प्रकृति को कोई अपमान करना नहीं है जैसा कि आचार्य शुक्ल ने पश्चिमी चिन्तन के प्रभाव में समझा था, क्योंकि उद्दीपन होकर भी है तो विभाव ही अर्थात् सामान्य रूप भाव को विशेष बनानेवाला गत्यात्मक व्यापार, वह जड़ नहीं, बल्कि सुषुप्त को, अचल को, स्थिर को, स्पन्दित करनेवाला, विचलित करने वाला, पर्युत्सुक करने वाला और अंकुरित करने वाला व्यापार है।

इसकी अवधारणा उपर्युक्त दोनों अवधारणाओं का सहज परिणाम है, इस एक और ब्रह्मानन्द-सहोदर अनुभव होने के नाते अलौकिक अनुभव है, ब्रह्मानन्द नहीं, क्योंकि ब्रह्मानन्द के अनुभव की तरह यह शब्दातीत नहीं, यह शब्दार्थ के अनुभव के साथ अनुस्यूत अनुभव है, दूसरी ओर यह विषय-सम्पृक्त होने के कारण अर्थात् निरन्तर भिन्न-भिन्न प्रकार के ऐन्द्रिय और मानस-अनुभवों में स्पन्दित होने के कारण लौकिक अनुभवों का एक विलक्षण अमूर्तीकरण है। जिन लोगों ने इस सिद्धान्त को केवल कुछ गिनाई गयी श्रृंगार आदि कोटियों तक सीमित माना है, वे भारतीय रागबोध के बारे में प्रायः दुराग्रही हो जाते हैं। इस सिद्धान्त का महत्त्व बौद्धिक अमूर्तीकरण को सर्जनात्मक आयाम देने में है, न कि कोटियों को गिनाने में या कोटियों की परिधि में भारतीय रागबोध को बांधने में। इसके साधारणीकरण वाले पक्ष को इसलिए प्रायः गलत समझा गया है और इसीलिए प्राचीन भारतीय साहित्य या प्राचीन भारतीय कला का भी मूल्यांकन बहुत गलत ढंग से किया गया है। जिन लोगों ने साधारणीकरण का अर्थ यह लिया कि उसमें व्यक्ति की विशेषता का तिरोभाव हो जाता है और टाइप का निर्माण होता है, वे भारतीय साहित्य या भारतीय कला में आदर्श या प्रतिमान की पुनरुक्ति ही देखते रहते हैं, साधारणीकरण का प्रयोजन राम को रामत्व से अलग करके नायक बनाना नहीं है, बल्कि अभिनेता के द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले रामत्व को सबका रामत्व बनाना है। साधारणीकरण के संदर्भ में यह भी जोड़ना आवश्यक है कि यह साधारणीकरण एक विशेष प्रकार की प्रतिभा के द्वारा सम्भव होता है। वह प्रतिभा न तो इलहाम है, न सामान्य बुद्धि। वह निरन्तर काव्य के अभ्यास या कला के अभ्यास से उद्भूत होने वाला संस्कार है। यह संस्कार, इसीलिए, खण्डता को तोड़ता है, खण्ड को नहीं तोड़ता, खण्ड को तो अखण्ड से जोड़ता है! इसीलिए प्राचीन काव्य या कला में स्थूल दृश्य का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महत्त्व उतना नहीं है जितना कि प्रातिभ दृश्य का है अर्थात् उसमें न तो हू-बू-हू अंकन को महत्त्व है, न आवेगमय चित्रण को, उसमें रूमानियत का भी अभाव है और यायातथ्य का भी। साथ ही उसमें कथा होते हुए भी कथा पर बल नहीं है, पात्र होते हुए भी पात्र पर बल नहीं है, बल है एक ही कथा और एक ही पात्र में नये रूप में झंकृत होने वाले भाव पर अर्थात् इसको प्रमुखता देने का अर्थ यही है कि वही रामायण, वही महाभारत की कथा, वही राम, रावण और युधिष्ठिर-दुर्योधन जैसे पात्र वार-वार रचना में आते हैं और इससे प्रभावित होकर रामायण और महाभारत फिर रचे जाते हैं और राम, रावण और युधिष्ठिर-दुर्योधन भी पुनर्जन्म लेते हैं अर्थात् न कथा पुरानी पड़ती है न पात्र। रस—यह नाम जातीय वोध के वार-वार नये होने के अनुभव का है, रस एक न चुकने वाली प्रक्रिया है, वही स्थायी भाव का संचारणात्मक रूप है, वह सनातन का प्रवहमान रूप है। भारतीय कला-दृष्टि के वारे में विचार करते समय इसी प्रकार की रस-दृष्टि प्रासंगिक है। रूढ़िवद्ध, वर्ग रूपायित रसविवेचन महज एक बौद्धिक तमाशा है। उसका अपना मज़ा अलग है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता, पर उस विवेचन को भारतीय साहित्य या कला के मानदण्ड के रूप में स्वीकार करना भारतीय चिन्तन की अवमानना करना होगा।

भारतीय कला की जो आधारभूत अवधारणाएं ऊपर स्थापित की गयी हैं, उनके अलावा एक चौथी अवधारणा है तान्त्रिक दृष्टि से उद्भूत और हम उसी को अधिक विस्तार से समझने की कोशिश करेंगे, क्योंकि यह अवधारणा अभी तक अपेक्षाकृत कम प्रकाश में आयी है।

भारतीय परिसर में कला के शब्दार्थ पर विचार करते समय शक्ति और शिव को अलग नहीं रखा जा सकता, क्योंकि कला का जो व्यापक अर्थ है वह शिव और शक्ति की साधना से ही निकला है। एक प्रकार से यह कहना चाहिए कि न केवल कला की वल्कि, अन्य भारतीय विद्याओं की उत्पत्ति भी शिव की ही परम्परा से मानी गयी है। शिव आदिगुरु हैं समस्त साधनाओं के और इसीलिए भारत में प्रत्येक साधना का क्षेत्र इस आदिगुरु के रूप के द्वारा एक दूसरे में परिणत है। चित्रकला में, नृत्यकला में, संगीत में, शिल्प में, स्थापत्य में, योग में, तन्त्र में, काव्य में नाट्य, में, और दर्शन में एक दूसरे की अपेक्षा रहती है और इसीसे प्रत्येक साधना में एक समान अनुशासन पर वल दिया जाता है। यह अनुशासन केवल शरीर का नहीं वल्कि मन का भी होता है और अधिक गहराई में जाकर मन के उद्भव, अहं का भी होता है। कला का स्थान स्टेला क्रेमरिश के अनुसार बुद्धि से ऊपर और महत् के नीचे है।

"कला महत् से उद्भूत होती है और बुद्धि में अन्ततः परिणत होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फलतः यह अहं या व्यक्तित्व अपनी सीमाओं में कला के व्यक्तित्व को ग्रहण-मात्र करता है, किन्तु कला की रचना-प्रक्रिया में उसका कोई हाथ नहीं होता। वह व्यक्तित्व, कलाकार जब अपनी रचना पूर्ण कर चुकता है तब जाकर अपने में सृष्टित्व की पहचान कर पाता है। भारत की सृजनात्मक प्रतिभा के लिए जगत् वस्तु-रूप नहीं है बल्कि आत्म-वस्तुरूप है। जो कुछ भी इसका अंश कला-चक्षु द्वारा दृष्ट होता है, उसमें उस दृष्ट अंश के साथ-साथ वह दृष्टि भी सन्निविष्ट रहती है जिससे कि वह देखा जाता है। इस दृष्टि को दृष्ट से अलग करने की बात नही सोची जा सकती।" (ट्रेडिशन्स इन इण्डियन आर्ट)

इसी बात को तान्त्रिकों ने और उनसे शिवतत्व ग्रहण करके दर्शन की स्थापना करने वाले प्रत्यभिज्ञावादियों ने उद्घोषित किया है। तान्त्रिकों के मत में छत्तीस तत्त्व होते हैं और इसमें मन, बुद्धि, अहंकार और अन्तःकरण इन सबके मूल में कला-शक्ति कही गयी है।

सर्वकर्तृत्वरूपा वैक्रियाशक्तिः कलाभवत्।

अर्थात् सृजन-शक्ति ही कला है और कला से भी ऊपर स्थान है स्वतन्त्र आनन्द-शक्ति का और उसके ऊपर स्थान है,शिव का। एकप्रकार से जिस तरह रूप, रस, गन्ध स्पर्श और शब्द अपने ततद् ज्ञानेन्द्रियों में समाते हैं, ज्ञानेन्द्रियां मन में, मन-बुद्धि में, बुद्धि अभिमान में, अभिमान अन्तःकरण में, उसी प्रकार मनुष्य का, जीव का अन्तःकरण कला में अपनी सत्ता प्राप्त करता है और कला भी अपना मूल शक्ति में और शक्ति अपना अस्तित्व शिव में प्राप्त करती है। रस वाद के प्रवर्तक अभिनवगुप्त ने भी :

यदुल्मीनशवत्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्॥

(लोचन, प्रथम उद्योत)

इस श्लोक में प्रतिभा की जो परिभाषा दी है वह भी कला, शक्ति और शिव को एक सूत्र में बांधती है।

इस परम्परा को समझना यानी भारतीय कला को समझने की चेष्टा करना आज की स्थिति में, जब कि कला के बारे में कोई स्पष्ट आधार अपने पास नहीं है, और भी अधिक आवश्यक है। पाश्चात्य मान्यताएं असत्य हैं, इसलिए निरसनीय हैं, यह कोई मूढ़ाग्रही ही कहेगा पर उन मान्यताओं की आधारभूमि किसी न किसी हद तक हमसे विच्छिन्न जरूर है। इसलिए उनको अपनी भूमि में रोपने के पहले यह जरूर जांच लेना आवश्यक हो जाता है कि क्या इस भूमि में वह पनप भी सकेगी।

दृष्टान्त के तौर पर एक मौलिक भेद की बात ले लीजिए। यह नहीं है कि पाश्चात्य कला में शिव की, मोटे तौर पर पर-जन-हित की बात या मानव-

प-६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कल्याण की बात सन्निहित न हो। जो मौलिक अन्तर है वह यह है कि शिव उनके यहां कला में बाहर से आते हैं, कला ही में उनका अधिष्ठान नहीं होता, जब कि ठीक इसके विपरीत हमारे यहां न केवल कला, बल्कि कलासृष्टि का अधिष्ठान, मानव-मन और उसका भी निलय, मानव-शरीर और उसके परिसर, इन सभी में शिव का अधिष्ठान माना गया है। इस मौलिक भेद का परिणाम यह होता है कि पाश्चात्य कला जब अपने उत्कर्ष पर होती है, जब अपने को किसी महान् प्रयोजन के लिए अर्पित कर देने के लिए छटपटाहट-सी उसमें होने लगती है, अहंकार संघर्ष करने लगता है जब कि हमारे यहां अहंकार-सुषुप्ति पर ही कला की पीठिका बनायी गयी है। कलाकार अर्पित होकर ही कलाकार बनता है, कलाकार बनने के बाद वह अर्पित नहीं होता। इसीलिए वहां व्यष्टि और समष्टि के क्षेत्र में झगड़े भी प्रत्येक युग में एक-न-एक रूप में उठते रहते हैं, जबकि हमारे यहां ये झगड़े अभी अब उठने लगे हैं।

हमारे यहां ऐसे झगड़ों की गुंजाइश ही नहीं है, क्यों कि कला व्यष्टि और समष्टि को जोड़ने वाली सन्धि-रेखा है और कला का उद्भव ही समष्टि के अभिप्राय को व्यक्ति का रूप देने के लिए होता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति की आकांक्षा को महत् का आकार देने के लिए होता है, इसलिए आज के सन्धि-युग में जब सह-अस्तित्व के नाम पर प्राच्य और प्रतीच्य सम्बन्धों को एक करने की बात की जाती है, तब दूसरे से आदान-प्रदान की बात कही जाती है, तब सही दृष्टि रखने की और जतलाने की आवश्यकता और अधिक तीव्र हो जाती है। इन दोनों संस्कृतियों में भेद प्राय:यह कहा जाता है कि एक भौतिक है, तो दूसरी आध्यात्मिक है। एक शरीर को महत्व देती है, दूसरी आत्मा को और इसलिए एक ऐहिक और दूसरी पारलौकिक है। तत्त्वत: इस प्रकार का विभाजन असंगत है, क्योंकि भौतिक और आध्यात्मिक दोनों को अलग प्रकोष्ठ के रूप में देखना, यह चीज़ ही भारत के लिए और भारत की कला के लिए अकल्पनातीत है। भारतीय कला या भारतीय साधना मोक्ष की जो बात करती है और मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ मानती है, वह इस उद्देश्य से नहीं कि इस शरीर को छोड़कर वह उसे प्राप्त करे, बल्कि वह कला केवल इस शरीर के अन्दर ही अन्दर ऐसा रस प्रवाहित करे, जो इस शरीर के श्वास-प्रश्वास को चराचर विश्व के श्वास-प्रश्वास से एकाकार कर सके, यही कलाकार का परम मोक्ष है। पश्चिम में स्पिरिट अध्यात्म शरीर से अलग है और शरीर याने यह रक्त और मांस, ये उस अध्यात्म की प्राप्ति में बाधक हैं। सही माने में अध्यात्म पर, शरीर के मूल्य पर बल देना ही अभारतीय कल्पना है। हमारे यहां तो यह माना गया है कि 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च देहे व्यवस्थितम्' (परशुराम कल्पसूत्र) अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म का रूप है और मनुष्य की देह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में अवस्थित है। मनुष्य उसको नये सिरे से नहीं प्राप्त करता, वल्कि उसको कुछ पाशों से, कुछ सीमाओं से और कुछ कुण्ठाओं से जब भूल जाता है तब, वह आनन्द उसी का स्वरूप है, यह उसे फिर से प्रत्यभिज्ञान करना पड़ता है और हमारे यहां जो परम पुरुषार्थ है, वह यही आत्मस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान है या दूसरे शब्दों में 'स्वविमर्शः पुरुषार्थः' (परशुराम कल्पसूत्र)।

वस्तुतः दोनों संस्कृतियों में भेद यह है कि एक विश्लेष पर जीती है, दूसरी संश्लेष पर। हरएक चीज को विवेचनपूर्वक अलग-अलग देखने का एक अभ्यास करती है और दूसरी विविक्त रूप से पृथक् पदार्थों को जोड़ने में जीवन की उपलब्धि मानती है। एक के लिए कला अभिव्यक्ति है, दूसरे के लिए कला साक्षात्कार है, स्व-संविद् है। एक के लिए ईश्वर इसलिए अगोचर है कि वह अपने से दूर है और दूसरे के लिए इसलिए अगोचर है कि वह अपने में ही लीन है।

हो सकता है कि जो शुद्ध भारतीय परम्परा कही जानी चाहिए, वह अनेक प्रभावों एवं दुष्प्रभावों के कारण आज बहुत कुछ संकर हो गई हो और उस संकर रूप को ही अब हम शुद्ध भारतीय समझने की नादानी करने लगे हों, पर आज की युग-सन्ध्या हमसे गहन आत्म-चिंतन मांगती है। हम सोचें और अपनी परम्परा से इस दृढ़ भावना का व्रत लें कि 'सर्वं वैद्यं हव्यमिन्द्रियाणि सुचः, शक्तयो ज्वालाः स्वात्मा शिवः, पावकः स्वयमेव होता' (परशुराम कल्पसूत्र) अर्थात् अपने आप होता बनें और अपने अन्तःस्थ शिव की अग्नि में उनकी शक्तियों की ज्वालाओं को अपनी समस्त इन्द्रियोंकी स्रुवाओं से समस्त वैद्य वस्तुओं की आहुति देकर धधकाएं, तब हम अपने को शिवमय बना सकेंगे। कला, शक्ति और शिव के परस्पर सम्बन्ध को लेकर नयी काव्यमय कल्पनाएं नये प्रतीक और नये ध्यान हमारे यहां बने हैं। कला शब्द के कई अर्थ हैं। चन्द्रमा के सोलहवें अंश को भी कला कहते हैं। और चन्द्रमा की पहली कला जिसका नाम शास्त्रों में अमृता है, शिव के भाल पर अवस्थित रहती है। कला बांकी होती है और भौतिक दृष्टि से प्रायः अदृश्य होती है। कला समय का भी एक माप है, कला शिल्प-रचना आदि के लिए भी प्रयुक्त होती है और उसके चौंसठ भेद गिनाये गये हैं।

कला, जैसा कि ऊपर बताया गया है, शिव की क्रिया-शक्ति भी कही जाती है। वैसे जिस धातु से कला शब्द की व्युत्पति है, उसका अर्थ है बनाना, जोड़ना, सुन्दर रूप देना। पराशक्ति कला की सूक्ष्म वृत्ति होने के कारण चिदात्मिका कही जाती है और शिव से संयुक्त होने पर आनन्दात्मिका हो जाने पर चित् कला कही जाती है और उसका एक ध्यान ऐसा भी है, इच्छा-शक्ति शूल है, क्रियाशक्ति कमल है, ज्ञानशक्ति शंख है, अहंकार का कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुस्तक है और सृष्टि, स्थिति और प्रलय उनके तीन लोचनों में चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि की ज्योति के रूप में अवस्थित है और पांच आवरणों के अपसारण से संविद् के प्रकाश से वे आलोकित हैं, आनन्द ही उनका चरणकमल है और निष्कलंक चन्द्र-मण्डल उनका छत्र है, चन्द्र की अमृत कला ही उनके भाल की चित् कला है (परशुराम कल्पसूत्र) शिवजी उस चित् कला के संयोग से आनन्दमय वनते हैं, स्वयं निस्पन्द हैं, शक्ति ही उनमें स्पन्दन लाती है, और शक्ति के संयोग से ही वे नृत्य की सृष्टि करते हैं, तन्त्र की दीक्षा देते हैं, योग शिक्षा देते हैं और मनुष्य के श्मशान सरीखे उजड़े हुए हृदय में जिसमें उसकी सकल अहंताएं जलकर क्षार हो चुकी हों, आनन्द-नर्तन करते हैं। शक्ति अपने अनेक प्रकार के सम्मोहनों के द्वारा साधक को उस गह्वर की ओर अन्तःकरण की उस गहराई की ओर खींचती जाती है, जहां शिव का निवास होता है। कला ही शक्ति के सम्मोहन का वाहन वनती है। इस प्रकार कला की प्रयोजकता, शिव-सान्निध्य और अन्त में शिवरूपता लाने में ही है, क्योंकि वह शिव की एक अवान्तर दशा है। यहां पर सहज ही में यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या भारत के समस्त कलाकार शैव है और क्या बुद्ध और जैन गुफाओं और मन्दिरों की कला भारतीय नहीं है। इसका उत्तर वहुत ही स्पष्ट है, शिव यह नाम उपलक्षण है और इसमें संदेह नहीं कि जो भारत की आदि कला है वह शैव विचारधारा से ही अनुप्राणित है और उसके अलावा भारत के प्रत्येक दर्शन की चिन्तन पद्धति में वहुरूपता होते हुए भी एक ऐसी एकार्थता है, जो विभिन्न प्रकार की उपासना करने वालों या विभिन्न प्रकार की दार्शनिक विचारसरणि अपनाने वालों को एक अनुशासन में बांध लेती है, उस अनुशासन को हम यदि शिवमय कहें तो कोई असंगति न होगी, क्योंकि शिव का अर्थ है वह परम तत्त्व जो प्रत्येक मनुष्य के हृदय में शून्य रूप में, आनन्द के रूप में, अर्हत् के रूप में, बुद्ध के रूप में, विष्णु के रूप में या और भी किसी अन्य रूप में प्रवहमान है। कोई उसके एक क्षण को मूल्य देता है, कोई उसकी क्षमता को, कोई उसकी व्यापकता को, पर सभी अपना उद्धार, अपना मोक्ष और अपने इस शरीर और मन को साधन के द्वारा उसी में पाते हैं।

'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति ।। (तैतिरीयोपनिषद् ७/६)

उसी को पाकरके हम आनन्दवान् होते हैं और वह आनन्द न रहे तो सांस खींचना और सांस छोड़ना भी दूभर हो जाय।

को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्
(तैत्तिरीयोपनिषद् ७/६)

यदि यह आकाश आनन्दमय न हो तो कौन सांस लेगा, कौन जियेगा ! जो अभय चाहता हो वह इस आनन्द को प्राप्ति करे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी सिलसिले में कला के बारे में आधुनिक युग के एक बहुत बड़े विचारक टामस मान का अभिमत भी तुलना की दृष्टि से जानना अप्रासंगिक न होगा। टामस मान ने अपने 'दि आर्टिस्ट ऐण्ड सोसाइटी' शीर्षक निवन्ध में यह स्वीकार किया है कि "कला शक्ति नहीं है, वह केवल एक राहत है, वह जीवन की गम्भीरता का खेल खेलती है और पूर्णता की प्राप्ति के लिए मनुष्य के शाश्वत प्रयत्न को आकार देती है। एक प्रकार से वह मनुष्य की सहचरी है। कला सत् के साथ बंधी है, उसकी जड़ करुणा में है, करुणा जो बुद्धि से भी अधिक प्रेम के समीप है। कला यदि हमें हंसाती है, तो हमारी किसी चीज़ की खिल्ली उड़ाने के लिए नहीं, वह हंसी ऐसी प्रफुल्लता की अभिव्यक्ति है, जिसमें घृणा और अज्ञान घुल जाते हैं और जो हमें उन्मुक्त कर देती है, पर उन्मुक्त करके भी हमें एक दूसरे से मिलाती है। यद्यपि वह जन्म लेती है एकान्त में, पर उसका कार्य एक दूसरे का जोड़ना ही होता है, पर यह सब होते हुए भी कला कभी मनुष्य के भाग्य पर अपने प्रभाव के बारे में मुगालता नहीं रखती, वह निम्न प्रवृत्तियों की निन्दा करके भी कभी भी पाप की प्रगति को रोकने में कृतकार्य नहीं रही है।" टामस मान के इस अभिमत में आधुनिक युग और विशेष रूप से पश्चिम की कला सम्बन्धी धारणा बहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है। जिस प्रफुल्लता को वे अन्तिम ध्येय मान कर चलते हैं वह प्रफुल्लता प्राच्यों की आनन्द पारिकल्पना से कहीं दूर है, क्योंकि उस प्रफुल्लता की उद्भव-भूमि अर्थात् कलाकार का हृदय अहं से अविच्छिन्न रहता है। कभी-कभी तो वह अहं इतना स्फीत हो जाता है, विशेष रूप से उन लोगों में जो उधार ली हुई संस्कृति के बल पर धूमावृत समाज में चमकना चाहते हैं और जो इस मुगालते में बराबर पड़े रहते हैं कि "नया तो मेरा युग है, मेरी प्रकृति है तथा सबसे नया मैं हूं" (दूसरा तारसप्तक: नरेश का वक्तव्य) या जिन्हें अपनी दुर्बलता का या अपनी अक्षमता का ज्ञान होते हुए भी अपने मन को सन्तोष देते हुए अपने इस तर्क को बहुत बड़ा करके रखने की अवश्यकता होती है कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियां बदल गई हैं और कवि का क्षेत्र रागात्मक सम्बन्धों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन पर कविकर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है। इन लोगों का व्यक्ति-सत्य और वस्तु-सत्य की उलझन बराबर सताती रहती है और इस उलझन में ही बहुधा ये प्रतिभाशाली होकर भी अपना सन्तुलन खो देते हैं। इसीसे वे कला का मूल धर्म शिव को भूल कर सच्चाई, स्वस्थता, ईमान और आस्था की बात उभारने लगते हैं। इस प्रक्रिया में जो खतरा निहित है उसको देखकर ही गेटे ने यह दो टूक बात कही थी कि किसी कलाकृति का हो सकता है कि कोई नैतिक प्रभाव हो, पर कलाकार से नैतिक प्रयोजन की मांग करना उसके कलाधर्म को ही चौपट करना है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गेटे, के कहने का अभिप्राय केवल यही है कि कलाकार की एक मर्यादा होती है, वह मर्यादा है विनम्रता की। उसे जो कुछ भी कहना चाहिए वह मसीहा के तौर पर नहीं और उसे नैतिक, सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्रों का दावा नहीं करना चाहिए। जब तक कि कला कलाकार को यह बोध न करा दे सके कि वह अकिंचन है और स्वयं कलासृष्टि की महिमा का भी वह साझीदार किसी भी प्रकार नहीं है, तब तक कला ऊंचे उठ नहीं सकती। इस बात की ओर पश्चिम में तो लोगों का ध्यान गया है, पर हमारे अपने देश के पश्चिम-वादियों ने अभी इस पर ध्यान नहीं दिया है। पश्चिम में यह आवश्यकता महसूस की जाने लगी है कि वहां की प्रतिभा का क्षेत्र अब ऊसर और वीरान पड़ने लगा है क्योंकि आज का औसत कलाकार अपने से विच्छिन्न हो गया है। वह इसलिए बाहर-बाहर की बातें करता है। लारेन्स वाण्डर पोस्ट ने अपने 'दि डार्क आई इन अफ्रीका' शीर्षक लेख में बहुत पैनी दृष्टि से इस बहकाव पर विचार करते हुए लिखा है कि "मलय भाषा में माता कैलप एक शब्द है जिसका अर्थ है घनी दृष्टि और वह उनके लिए प्रयुक्त होता है, जो शासन की तथाकथित अच्छाई और सुव्यवस्था के विरुद्ध एकाएक बागी हो उठते हैं और यह कहा जाता है उसकी आंखों में अन्धकार उतर आया है। यही अन्धकार अफ्रीका के माऊ-माऊ आन्दोलन में भी उतरा दिखाई पड़ता है। मैं समझता हूं कि यूरोपियन की अपनी दृष्टि भी इस अन्धकार से आवृत है और उसके भीतर की ज्योति दान्ते के शब्दों में जीवन के निविड़ वन में उद्भूत होने वाली सहज अग्नि आज बुझ गई है और अन्दर-बाहर दोनों ओर अन्धकार उमड़ता चला आ रहा है। यूरोपियन यदि अफ्रीका में और दूसरे देशों में ऐसी घटनाओं को उकसा रहे हैं, उसका कुछ कारण यह है कि वे स्वयं अपने में ऐसे संघर्ष को जन्म दे चुके हैं। (रिफार्मेशन) पुनरुद्धार युग के अनन्तर औसत यूरोपियन स्वयं अपने-आप से अनवरत और तीव्रतर युद्ध करता आ रहा है और स्थिति ऐसी आ गई है कि वह अपने ही प्रतिबिम्ब को अपना विरोधी मानने लगा है और विरोधी मानकर उसे नष्ट करने की कोशिश उसकी ओर से जारी है। अफ्रीका हम यूरोपियनों के अन्तःकरण का एक जादूभरा दर्पण है जिसको हम आक्रोश से तोड़ने में लगे हुए हैं।"

वैसे लारेंस की यह बात यूरोपीय जीवन के केवल एक पहलू श्वेत अभिमान को लेकर कही गई है। पर यह लागू होती है समूचे पश्चिमी जीवन-दर्शन पर। यह जानकर बहुत ही सुख होता है कि अपनी इस रिक्तता का ज्ञान पश्चिम के मनीषी कर रहे हैं और वे अनुभव करने लगे हैं कि "कला की सृष्टि मनुष्य को परिपूर्ण बनाने के लिए हुई है और उसके अन्तःकरण की मुक्ति के लिए हुई है।"

(पायनियेर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काश यह बात हमारे देश के अधिकांश पश्चिमाभिमुख कलाकार और साहित्यकार भी समझ पाते जो आज केवल इस आशंका में पड़े हुए हैं कि—"एकयुग पुराना रस-सिद्धांत कहीं उनके सही-सही मूल्यांकन और असल में गुणगान करने में असमर्थ न हो" और इसी लिए वे उसे "बहुत नाकाफी" समझते हैं। उनकी कला-साधना "जिन्दगी, अनुभूति और विश्वास का तकाजा" वही बनने में ही अपनी सार्थकता पाती है। वे नहीं समझते कि कला केवल एक पुकार है।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः।

(प्रश्नोपनिषद् २/१२)

तुम्हारा शरीर जो तुम्हारी वाणी में, तुम्हारी श्रुति में, तुम्हारी दृष्टि में और तुम्हारे मन में प्रतिष्ठित है उसको शिवमय करो। इसके वाहर उछल-कूद करने की ज़रूरत नहीं है।

हमारे यहां कला की स्थिति गंगा के समकक्ष है, जो जीवन-दायिनी है और जो सतत प्रवहमान है, चन्द्रकला के समकक्ष है जो अमावस के अन्धकार को चीरकर शिव के भाल में उदित होती है, उस नयन-शिखा के समकक्ष भी है जो विश्व का संहार करने की क्षमता रखते हुए भी मुंदी रहती है और जो कायिक वासना—काम—को इंगित मात्र से क्षार करके अनंग कर देती है। कला का आसन कमल है, जिसके विकास से दिन का प्रकाश होता है और जिसके मकरन्द में ब्रह्म-द्रव बसता है, जिसकी जड़-जगत्पालक विष्णु की नाभि में जाती है। कला की देवी सरस्वती का काम ही है, तानसेन के शब्दों में "तेरे तो सरस्वती घट-घट पूर रहीं नाम धरायों वाक बानी।"

यहां हो सकता है कोई प्रश्न करे कि "कला का संघर्ष समाज के संघर्षों से एकदम कोई अलग चीज़ नहीं हो सकती" और "कला की कोशिश यही होनी चाहिए कि सामाजिक यथार्थ के प्रति अधिक से अधिक जागरूक रहा जाए और वैज्ञानिक तरीके से समाज को समझा जाए" तो कला में इस प्रकार की वेसुधी या सूफी शब्दावली के अनुसार 'हाल' की आवश्यकता पर बल क्यों दिया जाए? इसका सीधा-सा उत्तर यही होगा कि जब तक कलाकार वस्तु-सत्य और व्यक्ति-सत्य को अलग-अलग देखता है, तव तक वह तन्मयता की बात नहीं समझ सकता। जब तक वह अपनी कला-दृष्टि में अपने दृश्य के प्रति ऐसी एकाग्रता नहीं लाता, जैसी कि वाण बनाने वाला वाण वनाते समय बाण की नोक में ला सकता है या जैसी निशाना लगाने वाला अपने लक्ष्य में ला सकता है, तब तक वह इस तथ्य को समझ ही नहीं सकता कि सच्चे कलाकार के लिए प्रत्येक तथ्य सत्य है। वह उसके लिए मात्र तथ्य रूप में नहीं रह सकता। कलाकार जो कुछ देखता है उसमें उसकी दृष्टि भी, पर उसकी होकर नहीं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अविभाज्य रूप से शामिल रहती है और उसका देखा हुआ सत्य न तो वस्तु-सत्य होता है न व्यक्ति-सत्य, वह सत्य होता है एक समग्र जाति का सत्य। कला, जैसा कि निबन्ध के पूर्व अंश में कहा जा चुका है, महत् से उद्भूत होती है, महत् जो बुद्धि से ऊपर है। इसीलिए कला की दृष्टि को बोधगम्य बनाया जाए और एक प्रकार से बुद्धि में परिणत कराया जाए, वहां तक तो बात ठीक है और समझ में आ सकती है पर उसको बुद्धि से प्रेरित रखा जाए यह उसके हित में नहीं है। भट्टनायक ने हृदयदर्पण में कहा है कि—

"काव्यस्य रसयिता सर्वो न बौद्धा न नियोगभाक्"

काव्य से रस लेने वाले सभी होते हैं, किंतु सभी उससे ज्ञान या आदेश नहीं लेते। रस लेने का अर्थ ही होता है अपनी समस्त संवेदना को अपने समग्र अनुभव को पुनर्जन्म देना और इस पुनर्जन्म के क्षण की उपलब्धि मनुष्य की सबसे ऊंची उपलब्धि होती है। जो अनुभव बहुत ही विनम्र ढंग से कलाकार द्वारा अपनी कला के माध्यम से रखा जाता है, वह इसलिए प्रभावकारी होता है कि वह किसी आकस्मिक घटना का फल नहीं होता, बल्कि कलाकार के युग की राष्ट्रीय चेतना के सहज संस्कारों से निकलता है। इसकी पुष्टि करते हुए इमर्सन ने कहा है कि "ललितकलाओं का जन्म कभी भी किन्हीं आकस्मिक कारणों से नहीं होता प्रत्युत वे उन जातियों की सहज वासना की द्युति से उमड़ती हैं।" रसवाद से जो लोग घबराते हैं या अपने अस्तित्व के बारे में उसकी स्थिति से शंकालु होते हैं उन्हें यह भी स्मरण करना चाहिए कि रस-वाद केवल विशुद्ध साहित्यिक आधारभूमि पर नहीं खड़ा हुआ। सदियों के दार्शनिक आलोड़न-विलोड़न के अनन्तर तन्त्र, प्रत्यभिज्ञा, वेदांत, वज्रयान, पांचरात्र, इन तमाम विचारधाराओं के परस्पर संघात से वह बना और उसने सबसे अधिक इस बात पर बल दिया कि सामाजिक, अभिनेता, कलाकार और अभिनेय इन चारों को एक रेखा पर लाने वाली संज्ञा ही कला है। साहित्य का अभिव्यक्तिवाद और अन्य कलाओं का रेखावाद जब यह प्रतिपादित करते हैं कि जो कुछ भी ये अवयव एक-दूसरे को उपकृत करने वाले दीख रहे हैं, उनसे वह भिन्न है, वह लावण्य जो केवल उनके द्वारा प्रतीयमान है, अभिधेय नहीं।

उदाहरण के तौर पर खुजराहो का एक मन्दिर लीजिए। आप उसकी एक-एक प्रतिमा में अलग-अलग सौन्दर्य निहारें, आपको कोई नहीं रोकेगा, पर उनके अलग-अलग सौन्दर्य में ही आप कला का प्रयोजन फलितार्थ मान बैठें तो आप खुज-राहो के कलाकार के साथ अन्याय करेंगे। पूरा मन्दिर ही ईश्वर का विग्रह है और ईश्वर को प्राप्त करने वाली साधना का विग्रह है। यह साधना नैरन्तर्य और क्रम-बद्धता में विश्वास करती है, उस साधना में अपार्थिव सौंदर्य का सम्मोहन है, पार्थिव प्रेम का भी विभ्रम है, लोक-उल्लास को व्यक्त करने वाला नृत्य-गान है, विद्या-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

घर और इन सबके ऊपर वह आमलक है, जिसके ऊपर अमृतकुंभ रखा रहता है और उस अमृतकुंभ को भेदकर साधक की ऊर्ध्वगामी आकांक्षा ऊपर चली जाती है, गर्भगृह के शिखर को महामण्डप और अर्द्धमण्डप के शिखरों से मिलाने वाली रेखा या मुख्य शिखर तक पहुंचने की कोशिश करने वाले उस शृंगों को बांधने वाली रेखा या गतिशील आनन्द को मोड़ देने वाली अंगरेखा, इन सभी द्वारा संकेतित पदार्थ एक है, इन सभी के पीछे काम करने वाली शक्ति एक है, यह एकार्थता अलग नहीं की जा सकती और दृष्टि-भेद तभी होता है, जब उन्हें कोई अलग करके देखता है। ये रेखाएं अपने में अत्यन्त सुन्दर और मोहक होते हुए भी प्रयोजक हैं प्रयोज्य नहीं। इसी प्रकार साहित्य में भाषा और भाव दोनों प्रयोजक ही होते हैं, उनसे प्रयुक्त होने वाला पदार्थ उनके किस अंश में है, इसको नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि वह पदार्थ जितना इन प्रयोजकों में है उतना ही वह इन प्रयोजकों के आस्वादन करने वाले सहृदयों में भी है।

दूसरा उदाहरण आप पश्चिम की किसी कलाकृति से लीजिए। लियोनार्दो द विंसी, माइकेल ऐंजिलो, रैंम्वां या सेज़ां, किसी की भी कोई कृति यदि आप लें, उसमें यह स्पष्ट रूप से पाएंगे कि शक्ति बहुत है, रचना सौष्ठव अद्‌भुत है, पर उन सबमें वह चीज़ बहुत कम है, जिसको खोजने के लिए उनके रूप के बाहर सोचने की ज़रूरत पड़े। उनमें जो कुछ है वह स्थूल इन्द्रिय-गोचर है, हद-से-हद मनोगोचर है पर कोई मनसातीत तत्त्व उनमें नहीं है। शायद इसलिए कि उन सभीका कला के प्रति दृष्टिकोण एक दूसरी चेतना से प्रेरित था जो कला को आत्म-अभिव्यक्ति से अधिक दूर ले जाने के बारे में नहीं सोच सकती थी। आत्म-साक्षात्कार उनके लिए आत्म विश्लेषण था। इनदोनों उदाहरणों को एक साथ देने का तात्पर्य यह है कि जो स्थान कला को हमारी परंपरा में प्राप्त है, वह पश्चिम की परम्परा में प्राप्त स्थान से बहुत कुछ भिन्न है और उस पर आज भी बल देने की उतनी ही ज़रूरत है जितनी कल थी, क्योंकि हम आने वाली पीढ़ी के लिए उनके परमानन्द का क्षण यदि न रचे होंगे तो हमारा कलाकार अपार्थ होगा। हम यदि अपने कलाकार को शिव रूप में अपनी कला में प्रतिष्ठित न करेंगे तो हम न अपने को जीवित रख सकेंगे, न अपनी जाति को। यही नहीं, भारतीय कलादृष्टि आज समूचे विश्व के लिए प्रासंगिक हो गई है, क्योंकि यही दृष्टि सबसे अधिक व्यापक और सबसे अधिक गत्यात्मक दृष्टि के रूप में धीरे-धीरे समस्त प्रबुद्ध वर्ग को प्रभावित करती जा रही है। यह बात दर्प की नहीं, कर्त्तव्य-बोध के प्रति गम्भीर जागरूकता की है।

○○

मुद्रक : शिक्षा भारती प्रेस, शाहदरा, दिल्ली

11106

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि आप चाहते हैं
कि हिन्दी में प्रकाशित
नवीनतम उत्कृष्ट पुस्तकों का परिचय
आपको मिलता रहे,
तो कृपया अपना पूरा पता
हमें लिख भेजें।
हम आपको इस विषय में
नियमित सूचना देते रहेंगे।

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चुने हुए ललित निबन्ध

भवन्ती	अज्ञेय
अंतरा	अज्ञेय
लिखि कागद कोरे	अज्ञेय
टूटी-छूटी कड़ियां	बच्चन
नये-पुराने झरोखे	बच्चन
बकलम खुद	मोहन राकेश
वातायन	शिवानी
औरत : एक दृष्टिकोण	अमृता प्रीतम
कुछ उथले : कुछ गहरे	डा० इन्द्रनाथ मदान
उसके बयान	कृष्ण बलदेव वैद
बोलते क्षण	जगदीशचन्द्र माथुर
शब्द की लकीरें	डा० चन्द्रप्रकाश वर्मा
विचार-तरंग	प्रो० दीवानचन्द शर्मा
बिखरे चित्र	वाशिंगटन इर्विंग
झरोखे	इमर्सन एवं अन्य

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट दिल्ली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi